



# श्रमण

४५ ]

अक्टूबर - दिसम्बर १९६४

[ अंक १० - १ ]

य सोहनलाल स्मारक पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी

# प्रो० सागरमल जैन

सम्पादक

डॉ० अशोक कुमार सिंह

सह-सम्पादक

डॉ० शिवप्रसाद

वर्ष ४५

अक्टूबर-दिसम्बर, १९९४

अंक १०-१२

## प्रस्तुत अङ्क में

१. भारतीय दर्शन में मोक्ष की अवधारणा — डॉ० राजीव प्रचण्डिया १ - ९
२. कर्म और कर्मबन्ध — नन्दलाल जैन १० - २२
३. महावीर निर्वाण भूमि पावा: एक समीक्षा --- डॉ० जगदीशचन्द्र जैन २३ - २५
४. आचार्य सम्राट पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज : एक अशुमाली — हीरालाल जैन २६ - ३२
५. जैन महापुराण : एक कला-परक अध्ययन — डॉ० कुमुद गिरि ३३ - ३६
६. पुस्तक समीक्षा — ३७ - ४७
७. मातृकापद शृंगाररसकलित गाथाकोश ( हिन्दी अनुवाद ) —

वार्षिक शुल्क

चालीस रुपये

एक प्रति

दस रुपये

यह आवश्यक नहीं कि लेखक के विचारों से सम्पादक अथवा संस्थान सहमत हों ।

# भारतीय दर्शन में मोक्ष की अवधारणा

- डॉ० राजीव प्रचण्डिया

प्रायः प्रत्येक भारतीय दर्शन के चिन्तन का केन्द्र बिन्दु आत्मस्वरूप की प्रतीति एवं प्राप्ति है। वह संसारी जीव के अन्तिम लक्ष्य/साध्य के स्वरूप को निर्धारित कर उसकी प्राप्ति के लिए साधन/उपाय बताता है। यह सत्य है कि समस्त आस्तिक दर्शनों का साध्य तो एक ही है किन्तु साधना मार्ग में किंचित भिन्नता अवश्य है। मोक्ष की कल्पना सभी आस्तिक दर्शनों में हुई है। उन्होंने अपने-अपने ढंग से उसके स्वरूप का निरूपण भी किया है। नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, योग तथा बौद्धदर्शन में दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को ही मोक्ष माना गया है।<sup>1</sup> बौद्धों की मान्यतानुसार मोक्ष में दुःख का अभाव है किन्तु शाश्वतसुख नामक कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। वेदान्त के मत में जीवात्मा तथा परमात्मा का मिलन मोक्ष है।<sup>2</sup> इनके मत में मोक्ष में शाश्वत सुख की प्रधानता है, दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति मोक्ष हो जाने पर स्वतः ही हो जाती है।<sup>3</sup> इस प्रकार इन समस्त दर्शनों ने मोक्ष को सुख की उपलब्धि अथवा समस्त सांसारिक दुःखों की निवृत्ति के रूप में स्वीकार किया है, किन्तु मोक्ष के साधना मार्ग के सम्बन्ध में ये सभी दर्शन एकमत नहीं हैं। नैयायिक तथा वैशेषिक दर्शन प्रमाण, प्रमेय आदि तत्त्वों का परिज्ञान प्राप्त करने को ही मोक्ष का साधन मानते हैं, जबकि सांख्य और योग दर्शन के अनुसार प्रकृति-पुरुष के विवेक या भेद-विज्ञान से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। वेदान्त दर्शन अविद्या और उसके कार्य से निवृत्ति को मोक्ष का साधन स्वीकार करता है। बौद्धदर्शन तप के अनुसार संसार को दुःखमय, क्षणिक एवं शून्यमय समझना ही मोक्ष का साधन मानता है।<sup>4</sup> बौद्धदर्शन तप की कठोरता तथा विषयभोगों की अतिरेकता की अपेक्षा मध्यममार्ग अपनाने पर अत्यधिक बल देता है। इस प्रकार उपर्युक्त सभी दर्शन किसी न किसी रूप में कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति को मोक्ष का साधन मानते हैं जिनकी साधना से संसारी जीव मोक्ष पद पर प्रतिष्ठित हो सकता है।<sup>5</sup> जैनदर्शनानुसार सम्पूर्ण कर्मों का क्षय/उच्छेद होना ही मोक्ष है।<sup>6</sup> मोक्ष की प्राप्ति पर यह संसारी जीव बार-बार जन्म-मरण से अर्थात् सांसारिक सुख-दुःख से पूर्णतया मुक्त हो अपने विशुद्ध-स्वरूप में रमण करता हुआ अनन्त आनन्द का अनुभव करता है। जैनदर्शन के अनुसार मुक्तात्मा न तो वेदान्त दर्शन की भाँति ब्रह्म में लीन होता है और न ही सांख्य दर्शन की भाँति प्रकृति को तटस्थ भाव से देखता रहता है और न ही नैयायिकों के ईश्वर के समान वह इस जगत् का निर्माता या ध्वंसकर्ता अथवा प्राणियों का भाग्य-विधाता बनता है अपितु जगत्/संसार से पूर्णतः निर्लिप्त होकर अपने ही ज्ञाता-द्रष्टा स्वरूप में स्थित हो जाता है।

जैनदर्शन के अनुसार संसारी जीव चार गतियों -- नरक, तिर्य्यच, मनुष्य, देव में से मात्र मनुष्य गति से ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है।<sup>7</sup> आयु के अन्त में उसका शरीर कर्पूरवत् उड़ जाता है और वह स्वाभाविक ऊर्ध्वगति के कारण लोकशिखर पर, जिसे सिद्धशिला कहा जाता है, अवस्थित हो जाता है। जहाँ वह अनन्तकाल तक अनन्त अतीन्द्रिय सुख का उपभोग करता हुआ अपने चरम शरीर के आकार से स्थित रहता है। वैसे तो ज्ञान ही उसका शरीर होता है।<sup>8</sup> अन्य दर्शनों की भाँति जैनदर्शन उसके आत्म-प्रदेशों की सर्वव्यापकता को स्वीकार नहीं करता और न ही उसे शून्य मानता है, अपितु उसको स्वभावजन्य अनन्तज्ञानादि आठ गुणों से युक्त स्वीकारता है। जैन दर्शन के अनुसार जितने जीव मोक्ष को प्राप्त होते हैं उतने ही जीव निगोद राशि से निकलकर व्यवहार राशि में आ जाते हैं। जिससे लोक जीवों से रिक्त नहीं होता, अपितु सदा भरा रहता है।<sup>9</sup>

जैनदर्शन की धारणा मोक्ष के सम्बन्ध में स्पष्ट है, वह सामान्यतः मोक्ष को एक ही प्रकार का मानता है किन्तु द्रव्य, भाव आदि की दृष्टियों से यह अनेक प्रकार का भी होता है यथा -- जीवमोक्ष, पुद्गलमोक्ष, जीव-पुद्गलमोक्ष।<sup>10</sup> द्रव्य और भाव की अपेक्षा से इसके दो भेद किए जा सकते हैं एक भाव-मोक्ष तथा दूसरा द्रव्य-मोक्ष।<sup>11</sup> क्षायिकज्ञान, क्षायिकदर्शन एवं यथाख्यातचारित्र्य रूप (शुद्धरत्नत्रयात्मक) जिन परिणामों से आत्मा से कर्म दूर किए जाते हैं उन परिणामों को भाव-मोक्ष कहा जाता है। कर्मों को निर्मूल करके शुद्धात्मा की उपलब्धि भाव-मोक्ष है और सम्पूर्ण कर्मों का आत्मा से अलग हो जाना अर्थात् जीव एवं कर्मों के प्रदेशों का निरवशेष रूप से पृथक् हो जाना ही द्रव्य-मोक्ष कहलाता है।<sup>12</sup> वास्तव में भाव-मोक्ष ही मोक्ष है क्योंकि जीवों के भावों में ही बन्धन है, मोक्ष है।<sup>13</sup> मोक्ष के लिए लिंग, जाति, कुल, धर्म आदि आधारभूत नहीं होते हैं, अपितु यह जीव के राग-द्वेषजन्य विकारों से मुक्त होने के उपक्रम पर निर्भर करता है। मोक्ष के इस व्यापक स्वरूप को समझने से पूर्व कर्मशुद्धता तथा बन्ध-प्रणाली को समझना परमावश्यक है। यह निश्चित है कि बन्ध प्रक्रिया समझने के उपरान्त ही कोई भी संसारी जीव बन्धन काटकर मोक्ष पर प्रतिष्ठित हो सकता है।

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त और बौद्धदर्शन की भाँति जैनदर्शन भी कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अनादि मानता है। संसारी जीव अपने कृत कर्मों का भोग करने तथा नवीन कर्मों के उपार्जन में ही सर्वथा व्यस्त एवं त्रस्त रहता है। संसारी आत्मा तथा मुक्तात्मा में भेदक रेखा मात्र कर्म बन्धन की है। वस्तुतः कर्म से सम्पृक्त जीव संसारी-जीव तथा कर्म से विमुक्त जीव मुक्तात्मा/सिद्धात्मा कहलाते हैं। वह आत्मा जिसका वास्तविक स्वरूप, जो कर्मावरण से प्रच्छन्न था, प्रकट हो जाता है तो वह मुक्त हो जाता है। वास्तव में कर्म-मल हटते ही चेतना पूर्णरूप में प्रकट हो जाती है अर्थात् आत्मा के स्वाभाविक गुण परिलक्षित होने लगते हैं। इसी को मोक्ष कहते हैं।

जैनदर्शन के अनुसार संसारी जीव जब कोई कार्य करता है तो उसके आसपास के वातावरण में क्षोभ उत्पन्न होता है जिसके कारण उसके चारों ओर उपस्थित कर्मशक्ति युक्त सूक्ष्म पुद्गल परमाणु/कर्मवर्णा आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं और इस प्रकार आत्मा

संसार-जीव में परिणत हो जाती है अर्थात् कर्मबन्धनों में जकड़ती चली जाती है। जैनदर्शन में कर्म को मूलतः दो भागों में विभक्त किया गया है। एक तो वे कर्म जो आत्मा के वास्तविक स्वरूप का घात करते हैं, घातिकर्म कहलाते हैं। इनके अन्तर्गत ज्ञानावरणीय (आत्मा के अनन्तज्ञानगुण का प्रच्छन्न होना), दर्शनावरणीय (आत्मा के अनन्तदर्शनगुण का अप्रकट रहना), मोहनीय (मोह को उत्पन्न करना) और अन्तराय (आत्मा के सामर्थ्य या शक्ति को क्षीण करना) कर्म आते हैं तथा दूसरे वे कर्म जिनके द्वारा जीव की विभिन्न योनियाँ, अवस्थाएँ तथा परिस्थितियाँ निर्धारित हुआ करती हैं, अघातीकर्म कहलाते हैं। इनमें नाम (शरीरादि का निर्माण करना), गोत्र (गोत्र, वंश, कुल, जाति आदि का निर्धारण करना), आयु (जीव की आयु को निश्चित करना) और वेदनीय (सुख-दुःख की वेदना का अनुभव करना) कर्म समाविष्ट हैं।<sup>14</sup> इन अष्टकर्मों की एक सौ अड़तालीस उत्तरप्रकृतियाँ जैनागम में उल्लिखित हैं, जिनमें ज्ञानावरणीय की पाँच, दर्शनावरणीय की नौ, वेदनीय की दो, मोहनीय की अट्ठाईस, आयु की चार, नाम की तिरानवे, गोत्र की दो तथा अन्तराय की पाँच उत्तरप्रकृतियाँ हैं।<sup>15</sup> इस प्रकार ये घाती-अघातीकर्म, आत्मा के स्वभाव को आच्छादित कर जीव के ज्ञान, दर्शन, सुख एवं शक्ति को क्षीण करते हैं तथा जीव पर भिन्न-भिन्न प्रकार से अपना प्रभाव डालते हैं जिसके फलस्वरूप संसारी जीव मोक्ष की अपेक्षा संसार में ही परिभ्रमण करता हुआ सुख-दुःख के घेरे में घिरा रहता है। इन अष्टकर्मों के अतिरिक्त नोकर्म का भी उल्लेख आगमों में मिलता है। कर्म के उदय से होने वाला वह औदारिक शरीरादि रूप पुद्गल जो आत्मा के सुख-दुःख में सहायक होता है वह "नोकर्म" कहलाता है।<sup>16</sup> ये नोकर्म भी जीव पर अन्य कर्मों की भाँति अपना प्रभाव डाला करते हैं।

प्रश्न यह उठता है कि वे कौन से कारण हैं -- जिनके द्वारा ये कर्म संसारी जीवों पर अपना प्रभाव डाला करते हैं, इस विषय पर कर्म में आस्था रखने वाले समस्त दर्शनों ने अपने-अपने ढंग से चिन्तन किया है। नैयायिक एवं वैशेषिक मिथ्या ज्ञान को, योगदर्शन प्रकृति-पुरुष के अमेद को तथा वेदान्त आदि अविद्या को कर्मबन्ध का मूल कारण मानते हैं।<sup>17</sup> किन्तु इस दिशा में जैनदर्शन की मान्यता है कि मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगादि (काय, मन, वचन की क्रिया) कर्मबन्ध के मुख्य हेतु हैं,<sup>18</sup> जिनमें लिप्त रहकर जीव कर्म-जाल में बुरी तरह से जकड़ा रहता है। इनसे मुक्त्यर्थजीव को अपने भावों को सदैव शुद्ध रखने के लिए कहा गया है क्योंकि कोई कार्य करते समय यदि जीव की भावना शुद्ध अर्थात् राग-द्वेष, क्रोध, मान-माया, लोभ, कषायों से निर्लिप्त, वीतरागी है तो उस समय शारीरिक कार्य करते हुए भी किसी प्रकार का कर्मबन्ध जीव में नहीं होता। कर्म करते समय जिस प्रकार का भाव जीव के मन में उत्पन्न होता है तद्रूप ही जीव में कर्मबन्ध हुआ करते हैं।

कर्मबन्ध की तीव्रता-मन्दता और आत्म-विकास की दिशा के आधार पर जीव की तीन स्थितियाँ जैन धर्म में द्रष्टव्य हैं। एक स्थिति में आत्मज्ञान का उदय नहीं होता है, दूसरी में आत्मज्ञान का उदय तो होता है किन्तु राग-द्वेष आदि काषायिक भाव अपना प्रभाव थोड़ा-बहुत डालते रहते हैं तथा तीसरी में राग-द्वेष का पूर्ण उच्छेदन अर्थात् आत्मस्वरूप का पूर्ण

प्रकटीकरण होता है। पहली स्थिति बहिरात्मा अर्थात् मिथ्यादृष्टि की, दूसरी अन्तरात्मा अर्थात् सम्यग्दृष्टि की तथा तीसरी स्थिति परमात्मा अर्थात् सर्वदर्शी की कहलाती है।<sup>19</sup> इस प्रकार संसारी जीव की निकृष्ट अवस्था से उत्कृष्ट अवस्था तक अर्थात् संसार से मोक्ष तक की यात्रा एक क्रमिक विकास है। आत्मा का यह क्रमिक विकास किसी न किसी रूप में प्रायः सभी भारतीयदर्शनों -- वैदिकदर्शन, बौद्धदर्शन तथा जैनदर्शन में क्रमशः भूमिका<sup>20</sup>, अवस्था<sup>21</sup>, जीवस्थान/गुणस्थान<sup>22</sup> आदि के नाम से स्वीकार किया गया है। जैनदर्शन के अनुसार ये गुणस्थान मिथ्यादृष्टि आदि के भेद से चौदह होते हैं।<sup>23</sup> जिनमें से होकर जीव को अपना आध्यात्मिक विकास करते हुए अन्तिम साध्य तक पहुँचना होता है। इन गुणस्थानों में मोहशक्ति शनैः-शनैः शीर्ण होती जाती है और अन्त में जीव मोह आवरण से निरावृत्त होता हुआ निष्प्रकम्प स्थिति में पहुँच जाता है। गुणस्थानों में पहले तीन स्थान बहिरात्मा की अवस्था, चतुर्थ से बारहवें स्थान तक अन्तरात्मा की अवस्था तथा तेरहवें एवं चौदहवें गुणस्थान परमात्मा की अवस्था का निरूपण करते हैं।<sup>24</sup> इस प्रकार प्रारम्भ के बारह गुणस्थान मोह से तथा अन्तिम दो गुणस्थान योग से सम्बन्धित हैं। इन गुणस्थानों में कर्मबन्ध की स्थिति का वर्णन करते हुए जैनागम में स्पष्ट निर्देश है कि प्रथम दश गुणस्थान तक चारों प्रकार के बन्ध -- प्रकृति, स्थिति, अनुभाग तथा प्रदेश होते रहते हैं किन्तु ग्यारहवें गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक मात्र प्रकृति और प्रदेश बन्ध ही शेष रहते हैं तथा चौदहवें गुणस्थान में ये दोनों भी समाप्त हो जाते हैं। तदनन्तर चारों प्रकार के बन्ध से मुक्त होकर यह जीवात्मा सिद्ध-परमात्मा हो जाता है अर्थात् मोक्ष पद प्राप्त कर लेता है।

जैनदर्शन की मान्यता है कि आत्मा का स्वभाव ज्ञानमय है अस्तु वह सदा ध्यान में प्रवृत्त रहता है। यह ध्यान आर्त्त, रौद्र, धर्म तथा शुक्ल नामक चार भागों में विभक्त है।<sup>25</sup> संसारी जीव सदा आर्त्तता एवं रौद्रता में ही अपनी शक्ति का हास करता रहता है। वह कदाचित् इस सत्य से अनभिज्ञ रहता है कि आर्त्त और रौद्र ध्यान संसार के परिवर्धक हैं तथा धर्म और शुक्ल ध्यान मोक्ष के हेतु हैं। इन चौदह गुणस्थानों में पहले तीन गुणस्थानों में आर्त्त तथा रौद्र, चौथे एवं पाँचवें गुणस्थान में आर्त्त, रौद्र तथा सम्यक्त्व के प्रभाव से धर्म-ध्यान, आठवें से बारहवें गुणस्थान तक में धर्म और शुक्ल तथा तेरहवें एवं चौदहवें गुणस्थान में मात्र शुक्ल-ध्यान शेष रह जाता है।<sup>26</sup> इस प्रकार जीव मोहादि की प्रबलतमशक्ति से छूटता हुआ शुक्ल-ध्यान में निरत हो अपनी आत्मा का आध्यात्मिक विकास करता है।

आत्मा के आध्यात्मिक विकास अर्थात् सम्पूर्ण कर्म-विपाकों से सर्वथा मुक्ति के लिए जैनदर्शन मुख्यतः चार साधनों उपायों को दर्शाता है। ये हैं -- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्-तप।

यह निश्चित है कि आत्मा, कर्म और नोकर्म, जो पौद्गलिक हैं, से सर्वथा भिन्न है। आत्मा पर पौद्गलिक वस्तुओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ा करता, यह अनुभूति भेद-विज्ञान कहलाती है, जो जीव को तपः साधना की ओर प्रेरित करती है। आगम में तप की परिभाषा को स्थिर करते हुए कहा गया है कि कर्मक्षय के लिए जो कुछ किया जाय, वह तप है।<sup>27</sup>

वास्तव में तप के माध्यम से ही जीव अपने कर्मों की निर्जरा कर सकता है। इसके द्वारा कर्म-मल समाप्त हो जाता है और अन्ततः जीव सर्व प्रकार के कर्मजाल से मुक्त हो जाता है। यह मोक्ष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य रूपी रत्नत्रय की समन्वित साधना से उपलब्ध होता है।

जैनदर्शन में रत्नत्रय के विषय में विस्तारपूर्वक तर्कसंगत चर्चा हुई है। इसके अनुसार जीव-अजीव आदि नवविध तत्त्वों का यथार्थ बोध -- सम्यग्ज्ञान, तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप पर किया गया श्रद्धान या स्वात्म प्रत्यक्षपूर्वक स्व-पर भेद या कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक सम्यग्दर्शन तथा आचरण द्वारा अन्तःकरण की शुद्धता अर्थात् कर्मबन्ध के कारणों का निरोध अर्थात् संवर (नवीन कर्मों को रोकना) तथा निर्जरा (पूर्व संचित कर्मों को तप द्वारा क्षय करना) में लीन रहना, सम्यक् चारित्र्य कहलाता है।<sup>28</sup> जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन के महत्त्व पर बल दिया गया है।<sup>29</sup> उसे मोक्ष का प्रथम सोपान माना गया है। बिना सम्यग्दर्शन के जीवन-पद्धति मिथ्यादर्शी होती है। वास्तव में सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान, चारित्र्य, व्रत तथा तपादि सब निस्सार हैं।<sup>30</sup> यह निश्चित है कि सम्यग्दर्शन से जीव सर्व प्रकार की मूढ़ताओं से ऊपर उठता चला जाता है अर्थात् उसे भौतिक सुख की अपेक्षा शाश्वत आध्यात्मिक सुख का अनुभव होने लगता है।<sup>31</sup> सम्यग्ज्ञान के विषय में जैनदर्शन की मान्यता है कि जिस ज्ञान में संशय, विपर्यास, अनध्यवसाय तथा मिथ्यात्व का अभाव हो तो वह यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान कहलाता है।<sup>32</sup> सम्यग्दृष्टि जीव का ज्ञान मिथ्यात्व की अपेक्षा सम्यक्त्व पर आधारित होता है। जैनागम में ज्ञान के उसकी तरतम अवस्थाओं, कारणों एवं विषयादि के आधार पर अनेक भेद-प्रभेद किए गये हैं।<sup>33</sup> मति, श्रुत तथा अवधिज्ञान मिथ्यात्व के संसर्ग से एक बार मिथ्याज्ञान की कोटि में आ सकते हैं किन्तु मनःपर्यय और कैवल्यज्ञान मात्र सम्यग्दर्शी जीवों में पाए जाने के कारण सम्यग्ज्ञान की सीमा में आते हैं। इस सम्यग्ज्ञान से संसारी जीव जीवन-मुक्त होता है अर्थात् पूर्ण सिद्धत्व के सन्निकट पहुँचता है। सम्यक् चारित्र्य के विषय में जैनदर्शन का दृष्टिकोण यह है कि बिना इसके मोक्ष तक पहुँचना नितान्त असम्भव है। इसकी सम्यक् आराधना के बिना मोक्ष की प्राप्ति संदिग्ध ही रहती है।<sup>34</sup> क्योंकि जो चारित्र्य रहित है उसका ज्ञान-गुण निरर्थक ही है। वास्तव में मुमुक्षु जीवों के लिए सम्यक्चारित्र्य उपादेय है। इस प्रकार तीनों का समन्वित रूप ही मोक्ष का मार्ग स्पष्ट करता है।<sup>35</sup> सम्यग्दर्शन होते ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र्य स्वतः ही हो जाते हैं। कथन की दृष्टि से ही इनमें क्रम है अन्यथा इनमें ऐसा कोई क्रम नहीं है कि सम्यग्दर्शन के उपरान्त सम्यग्ज्ञान और फिर सम्यक्-चारित्र्य ही हों, ये तीनों ही एक साथ होते हैं। वस्तुतः श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र्य से कर्मों का निरोध होता है। जब जीव सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य से युक्त होता है, तब आश्रव से रहित होता है। जिसके कारण सर्वप्रथम नवीन कर्म कटते/छँटते हैं। फिर पूर्वबद्ध संचित कर्मक्षय होने लगते हैं, कालान्तर में मोहनीय कर्म सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं। तदनन्तर अन्तराय ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय ये तीन कर्म भी एक साथ सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं। इसके उपरान्त शेष बचे चार अघातिकर्म भी विनष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार समस्त कर्मों का क्षय कर संसारी जीव मोक्ष को प्राप्त होता है। निश्चय ही कर्ममल से दूर हटने के लिए जीवन में रत्नत्रय की समन्वित साधना नितान्त उपयोगी एवं सार्थक है।

अन्ततः भारतीय दर्शन और उससे अनुप्राणित साहित्य में "मोक्ष", पुरुषार्थ चतुष्टय के अन्तर्गत अन्तिम पुरुषार्थ के रूप में स्वीकृत है।

### सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. (क) तदत्यन्तविमोक्षोपवर्गः । - सभाष्यन्यायसूत्र, 7/7/22  
(ख) ईश्वरकृष्ण कारिका, 1  
(ग) योगसूत्र, 2-26  
(घ) आत्यन्तिको दुःखाभावः मोक्षः । - न्यायवार्तिक  
(ङ) न्यायसूत्र, 1/1/2 पर भाष्य  
(च) दर्शन और चिन्तन, लेखक - पं. सुखलालजी, योग विद्या, पृ. 252
2. धर्म, दर्शन मनन और मूल्यांकन, लेखक -- श्री देवेन्द्रमुनिशास्त्री, अध्याय-धर्म/दर्शन का परमलक्ष्य, पृष्ठ 236
3. दर्शन और चिन्तन, लेखक -- पं. सुखलालजी, योग विद्या, पृ. 252
4. जैनदर्शन में मुक्ति : स्वरूप और प्रक्रिया, लेखक -- श्री ज्ञानमुनिजी महाराज (जैनभूषण), श्री पुष्करमुनि अभिनन्दन ग्रन्थ, चतुर्थ खण्ड, पृ. 316
5. चिन्तन की मनोभूमि, उपाध्याय अमरमुनि, पृ. 60
6. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, अध्याय 29, सूत्र 72  
(ख) दशाश्रुतस्कन्ध, अध्याय 5, गाथा 13  
(ग) मोक्ष असने -- । स आन्त्यन्तिक : सर्वकर्मनिक्षेपो मोक्ष इत्युच्यते । -- राजवार्तिक, 1/1/37  
(घ) धक्ला, 13/5/5/82  
(ङ) भगवतीआराधना, वि. 38/134  
(च) सर्वार्थसिद्धि, 1/1 की उत्पानिका  
(छ) परमात्मप्रकाश, 2/10  
(ज) ज्ञानार्णव, 3/6-10  
(झ) द्रव्यसंग्रह (टीका), 37  
(त) जं अप्पसहावादो मूलोत्तरपयडिसंचियं मुच्चइ । - बृहद्दन्य चक्र, 159  
(थ) आत्मबन्धयोद्धिघाकरणं मोक्षः । - समयसार, आत्मख्याति, 288  
(द) कृत्स्नकर्म विप्रमोक्षो मोक्षः । - तत्त्वार्थसूत्र, 10/2
7. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग, 3, क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी, पृ. 332
8. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, अध्याय 36, गाथा 57  
(ख) ज्ञानार्णव, 42  
(ग) तत्त्वार्थसूत्र, 10/5  
(घ) नियमसार, मूल, 72



- (ड) गोम्मटसार, जीवकाण्ड, मू. 68/177  
 (च) पंचसंग्रह, प्राकृत।
9. कदाचिदष्टसमयाधिकषणमासाभ्यन्तरे चतुर्गति जीवराशितो निगतिषु... !  
 -- गोम्मटसार, जीवकाण्ड (जी. प्र.), 197/441/15
10. (क) सामान्यादेको मोक्षः। द्रव्यभाव भोक्तव्य भेदादनेकोऽपि।  
 - राजवार्तिक, 1/7/14/40/25  
 (ख) धवला, 13/5,5,823/48/1
11. तं मुखं अविर्दुग्धं दुविहं खलु द्वव भाव गदं।  
 - बृहद्नयचक्र, 159
12. निखशेषाणिकर्माणि येन परिणामेन... समस्तानां कर्मणां।  
 - भगवतीआराधना, 38/134/18  
 (ख) कर्मनिर्मूलनसमर्थः... द्रव्यमोक्ष इति।  
 - पंचास्तिकाय (ता. वृ.), 108/173/10  
 (ग) प्रवचनसार (ता. वृ.), 84/106/15  
 (घ) द्रव्यसंग्रह, टीका, 28/85/14
13. परमात्मप्रकाश, टीका, 2/4/117/13
14. (क) प्रज्ञापनासूत्र, पद 21 से 29, उ. 1,2 सूत्र 293-299  
 (ख) उत्तराध्ययनसूत्र, अध्याय 33  
 (ग) षट्खण्डागम, 13/5,5 सूत्र 19/205  
 (घ) तत्त्वार्थसूत्र, 8/4  
 (ड) गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, मूल, 8/7  
 (च) द्रव्यसंग्रह, टीका, 31/90/6  
 (छ) बृहद्नयचक्र, 84
15. (क) तत्त्वार्थसूत्र, 8/5  
 (ख) गोम्मटसार कर्मकाण्ड, मूल, 22/15  
 (ग) षट्खण्डागम, 6/1, 9-1/सूत्र./पृ. 13/14,15/31, 17/34, 19/37, 25/48, 29/49, 45/77, 46/78  
 (घ) पंचसंग्रह, प्राकृत अधिकार, 2/4
16. (क) धवला, 14/5, 6, 71/52/6  
 (ख) गोम्मटसार, जीवकाण्ड, मूल. 244/507  
 (ग) नियमसार, (ता. वृ.), 107
17. दर्शन और चिन्तन, पं. सुखलालजी, अध्याय - कर्मवाद, पृ. 228
18. कर्म, कर्मबन्ध और कर्मक्षय, लेखक -- राजीव प्रचण्डिया, एडवोकेट, जिनवाणी मासिक पत्र (कर्मसिद्धान्त विशेषांक), 1984

19. (क) तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 9,1,12  
(ख) योगशास्त्र, प्रकाश, 12  
(ग) ज्ञानसार, मोहाष्टक, विद्याष्टक, तत्त्वदृष्टि-अष्टक  
(घ) कार्तिकेयानुपेक्षा, मूल 192
20. (क) उत्पत्ति-प्रकरण, सर्ग 117-118-126, निर्वाण 120-126  
(ख) पातंजलि-योगसूत्र, पाद 1, सूत्र 36, पाद 3 सूत्र 48-49 का भाष्य, पाद 1, सूत्र 1 की टीका
21. प्रो. सि. वि. राजबाड़े -- सम्पादित मराठी भाषान्तरित मज्झिमनिकायसूत्र, 6, पृ. 2, सूत्र 22, पृ. 15, सू. 34, पृ. 4, सूत्र 48, पृ. 10
22. (क) पंचसंग्रह, प्राकृत, 1/3  
(ख) गोम्मटसार, जीवकाण्ड, मूल, 8/29`
23. (क) षट्खण्डागम, 1/1, 1/सूत्र 9-22/161-192  
(ख) राजवार्तिक, 9/1/11/588/8  
(ग) मूलाचार, 1195-1196
24. (क) अध्यात्ममतपरीक्षा, गाथा 125  
(ख) योगावतारद्वित्रिंशिका
25. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 9, सूत्र 29
26. (क) ध्यानशतक, गाथा, 63-64  
(ख) आवश्यक हरिभद्रीटीका, पृ. 602  
(ग) तत्त्वार्थसूत्र, अ. 9, सूत्र 35-40
27. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, 20/6  
(ख) सर्वार्थसिद्धि, 9/6  
(ग) तत्त्वार्थसार, 6/18  
(घ) राजवार्तिक, 9/19/18  
(ङ) चारित्रसार, 133/4  
(च) पद्मनन्दि पंचविंशतिका, 1/98
28. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, 28/30-14  
(ख) तत्त्वार्थसूत्र, 1/2,4  
(ग) पंचास्तिकाय, 2/108  
(घ) दर्शनपाहुड, 19  
(ङ) पंचसंग्रह, प्राकृत, 1/159  
(च) मूलाचार, 203  
(छ) द्रव्यसंग्रह, 41  
(ज) वसुनन्दिश्रावकाचार, 10  
(झ) धवला, 1/1, 4

- ( त ) समयसार, तात्पर्याख्यावृत्ति, 155
29. ( क ) उत्तराध्ययनसूत्र, अं. 28, गाथा 30  
 ( ख ) दर्शन पाहुड मूल, 21
30. ( क ) उत्तराध्ययनसूत्र, अंक 28, गाथा 28  
 ( ख ) ज्ञानार्णवि, 6/54
31. ( क ) रयणसार, 54, 158  
 ( ख ) रत्नकरण्डश्रावकाचार, 34, 36
32. स्थानांगसूत्र, स्थान 2, उ. 1, सूत्र 71
33. ( क ) नन्दीसूत्र, गाथा 80  
 ( ख ) तत्त्वार्थसूत्र 1-13  
 ( ग ) धवला, 1/1, 1/37/1
34. ( क ) भगवतीआराधना, मू. 8/41  
 ( ख ) शीलपाहुड, मू. 5  
 ( ग ) मूलाचार, 897
35. ( क ) तत्त्वार्थसूत्र, अं. 1, सूत्र 1  
 ( ख ) उत्तराध्ययनसूत्र, अं. 28, गाथा 1-3  
 ( ग ) स्थानांगसूत्र, स्था. 3, उ. 4, सूत्र 194

एडवोकेट, एम० ए० ( संस्कृत ), बी० एस-सी०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०,  
 सम्पादक -- जयकल्याणश्री ( मासिक पत्रिका ), अलीगढ़।

# कर्म और कर्मबन्ध

- नन्दलाल जैन

विपिन विहारी<sup>1</sup> ने बताया है कि हिन्दू, जैन, बौद्ध, ईसाई, मुस्लिम एवं अन्य धर्मावलम्बी ईश्वरवाद या अनीश्वरवाद से सहचरित कर्मवाद को किसी न किसी रूप में मानते हैं। आचार्य महावीर के समय में प्रचलित 363 मतवादों में लगभग आधे क्रियावादी या कर्मवादी थे। ओहीरा<sup>2</sup> ने कर्मवाद की उत्थापना के लिये मानव की आहार (आहरण-कर्म) प्रक्रिया को मूल कारण माना है। इसी ने कालान्तर में अध्यायीकृत होकर धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्त का रूप लिया। सम्भवतः यही कारण है कि पुष्पदन्त भूतबलि आचार्य ने आहार के भेदों में कर्म और नोकर्म को भी समाहित किया।<sup>3</sup> मालवणिया के अनुसार, अनीश्वरवादी जैनों ने ईश्वरवाद के विरोध और प्रकृतिवाद के समर्थन में कर्मवाद को जीवन में सर्वोच्च स्थान दिया। यह सिद्धान्त केवल दार्शनिक, आध्यात्मिक या नैतिक ही नहीं अपितु भौतिकतः मनोवैज्ञानिक और शरीरशास्त्रीय भी माना जाने लगा है। कर्म शब्द के अनेक नाम व अर्थों के आधार पर इसके बौद्धिक, दार्शनिक, क्रियाकांडात्मक एवं भौतिक पक्षों पर अनेक विद्वानों ने विचार किया है ब्लावात्सकी ने इसे एक विश्वव्यापी एवं गतिशील कार्यकारण भाव नियम बताया है जिसका कोई अपवाद नहीं है।<sup>4</sup>

अनेक धर्मदर्शन-तन्त्रों की तुलना में जैनधर्म ने इस सिद्धान्त का विशेष विस्तार किया है। इस तन्त्र में कर्म को भौतिक, सूक्ष्म परमाणुमय (अब मौलिक कण -- कार्मन-मय) माना है। महाप्रज्ञ<sup>5</sup> इसे घनुस्पर्शी ऊर्जाकण मानते हैं जो लोक में सर्वत्र व्याप्त हैं और "प्रायोग्य कर्म" कहलाते हैं। इनमें बाधक कर्म बनने की क्षमता होती है लेकिन मुक्त रूप में वे एक-दूसरे से भिन्न नहीं होते। जब ये अपने विशेष समुच्चय (अनन्तान्त-कर्म-परमाणु-वर्गणा) की कोटि को प्राप्त होते हैं, तो सशरीरी जीव के साथ उसके प्रदेशों में अन्योन्य प्रवेशात्मक एक क्षेत्रवागाही सम्बन्ध स्थापित करने योग्य होते हैं। इस स्थिति में ही इन्हें "कर्म" की संज्ञा दी जाती है। फलतः कर्म परमाणु-वर्गणात्मक होते हैं और इनका 8 या 23 प्रकार की वर्गणाओं में समाहार हुआ है। ये कर्म सशरीरी जीव से सम्पर्क न होकर उसमें भावात्मक परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। इनके कारण नये कर्मों का अन्तर्वेशन होने लगता है। फलतः एक चक्रीय-प्रक्रिया चलने लगती है। हमारे जीवन का लक्ष्य इस प्रक्रिया को समाप्त कर अन्त सुख को प्राप्त करना है।<sup>6</sup>

जैन शास्त्रों के सामान्य अवलोकन से ज्ञात होता है कि इस सिद्धान्त का क्रमिक विकास हुआ है। उदाहरणार्थ, श्वेताम्बर मान्य आगम भगवती की तुलना में प्रज्ञापना में तथा

उसकी तुलना में षट्खण्डागम और तत्त्वार्थसूत्र में इस सिद्धान्त के विकास का अनुमान लगाया जा सकता है।

भौतिकवादी मान्यताओं की तुलना में कर्मवाद, आत्मवाद, पुनर्जन्म और कर्मफलवाद की मान्यता पर आधारित है। धर्म के व्यक्तिपरक विकास की धारणा के कारण शास्त्रों में कर्म-विवेचन का आधार भी व्यक्ति प्रधान रहा है। तदनुसार व्यक्ति का व्यक्तित्व, चरित्र, विकास, भाग्य और भावी जीवन उसके संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मों पर निर्भर करता है। पुनर्जन्म पर आधारित होने के कारण यह कर्म के शुभा-शुभ या पुण्य-पाप के भेद के आधार पर हमारा आध्यात्मिक विकास नियन्त्रित करता है। बीसवीं सदी में इसमें समूह-कर्मना (धर्म, सम्प्रदाय एवं राष्ट्र) भी समाहित हो गई है। प्राचीन समय में सम्भवतः इस ओर ध्यान नहीं गया था। पर, अब यह माना जाता है कि कार्मिक दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से सम्बन्धित है और हम सभी के कर्म-सूत्र हमारे सम्प्रदाय, समूह एवं राष्ट्र के साथ अंतःग्रथित है।

वैज्ञानिक युग में कर्मवाद के सिद्धान्त को कार्य-कारणवाद के रूप में न्यूटन के क्रिया-प्रतिक्रिया से सम्बन्धित तीसरे गतिनियम के अनुरूप माना जाता है :

क्रिया ===== प्रतिक्रिया; कर्म ===== कर्मफल

लेकिन गतिनियम तो केवल भौतिक घटनाओं के नियतिवादी नियम को व्यक्त करता है जबकि कर्मवाद चेतन जगत और शक्तियों पर भी लागू होता है। फलतः कर्मवाद न्यूटन के तीसरे नियम का ईसा पूर्व-कालीन विस्तार है। साथ ही, जैनों का कर्मसिद्धान्त गतिनियमों के समान नियतिवादी नहीं है, सशरीरी जीव अन्तः-बाह्य प्रयासों से इसे उत्परिवर्तित या अपवर्तित कर सकता है। उदीरण और अपवर्तना के प्रक्रप इसके उदाहरण हैं। अनेक महापुरुषों के पूर्वजन्म की पशु-मनुष्य योनियाँ इसके साक्ष्य हैं। फलतः यह सिद्धान्त विकासवाद का किंचित् सुन्दर रूप है जो केवल अपरिवर्तन मानता है। अतः जैन कर्मवाद एक तरल और गतिशील सिद्धान्त है जो अनेक अतिरिक्त कारकों के योग से वर्तमान और भविष्य को प्रोन्नत कर सकता है। इसीलिये कर्मवाद में आय-व्यय का खाना लचीला होता है। उसकी कार्य पद्धति रि-टु-पैटर्न के समान अनेक कारकों के समग्र प्रभाव से प्रचलित होती है। फलतः अब यह सिद्धान्त एक अन्योन्यसम्बद्ध, अन्योन्यप्रभावी, बहुआयामी और समग्र तन्त्र के रूप में माना जाता है।

नवीन वैज्ञानिक शोधों ने हमारी आकाश-काल सम्बन्धी धारणाओं में परिवर्तन किया है। द्रव्यमान-ऊर्जा को अन्योन्यरूपान्तर के रूप में सिद्ध कर दिया है। कार्य-कारणवाद के सिद्धान्त से विचलन के भी अनेक प्रयोग [ई.पी.आर. प्रयोग] सामने आये हैं। इससे अब कर्म अन्य तन्त्रों के लिये अमूर्त या पराशक्ति नहीं रह जाता, वह जैनों के समान भौतिक सूक्ष्मकण या ऊर्जा के रूप में सिद्ध होता है। फलतः अब कर्मवाद केवल व्यक्तियों की भौतिक, मानसिक और भावात्मक प्रक्रियाओं से उत्पन्न ऊर्जा के परिणामों को व्यक्त करता है। उसके समग्र व्यक्तित्व में कर्म के अतिरिक्त अन्य अनेक कारकों के आयाम भी सम्मिलित हो गये हैं। इनमें अचेतन या

अवचेतन मन और परा-मानसिक घटनायें सम्मिलित हैं। इनमें अनेकों में कार्य-कारणवाद लागू नहीं होता। इसी प्रकार, जब व्यक्ति या व्यक्ति समूह अन्तःग्रथित धागे के रूप में अन्योन्यसंबद्ध और प्रभावित होते हैं, तब व्यक्ति का व्यक्तित्व या कर्म स्वतन्त्र कहाँ रहा जो उसका भाग्य विधाता माना जाता है? साथ ही, यह संसार अच्छाई और बुराई के समान अनेक विपरीत गुणों का समूह है। किसी एक घटक में होने वाला परिवर्तन अन्य को भी स्वाभावतः प्रभावित करता है। इस तरह संसार एक संघर्षशील तन्त्र है और कर्मवाद को इस संघर्ष को संतुलित करने का सिद्धान्त माना जा सकता है। मनुष्य की समग्रता की धारणा, कार्यकारणवाद की सापेक्षता, अच्छे कर्मों को भी बंधकता की मान्यता एवं आनुवंशिकता के मूलकों का प्रयोगशालेय प्रयोग आदि तथ्य कर्मवाद को किंचित् अपूर्ण मानने की ओर इंगित करते हैं। फिर भी, पूर्व देशों में इस सिद्धान्त की भित्ति स्थिर है और इस पर वर्तमान अन्वेषणों का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा है।

यही नहीं, यह सिद्धान्त ऐसी घटनाओं की व्याख्या मनोवैज्ञानिक रूप से करता है जिन्हें सामान्यतः जटिल माना जाता है। दुर्घटनाओं के समय अचानक अनेकों में कुछ व्यक्ति/व्यक्तियों का बच जाना, एक ही परिवार के सदस्यों में बुद्धि, अद्यवसाय या शारीरिक विषमतायें, पुजारी या सद्दर्मियों का प्रायः कष्टमय जीवन एवं परोक्ष-अर्जकों का विलासी जीवन, अनेक जटिल या आनुवंशिक बीमारियाँ तथा कार्यक्रमों के आकस्मिक परिवर्तन आदि घटनायें सुज्ञात हैं। इनमें से अनेक घटनाओं को केवल आनुवंशिकी के आधार पर नहीं समझाया जा सकता। शास्त्रीय दृष्टि से कर्म शक्ति और कर्म प्रभाव ही इनका तर्कसंगत कारण लगता है। इन्हीं कारणों से कर्मवाद पर आज भी लोगों की दृढ़ आस्था है।

वैज्ञानिक दृष्टि से यह एक अमूर्त सिद्धान्त है। इसकी लोकप्रियता के लिये विभिन्न प्रकार के शास्त्रीय कर्मकाण्डों (विधान, उत्सव, व्रत-तप आदि) को माध्यम बनाया गया है जिससे वर्तमान जीवन में नैतिक उच्चता एवं भावी जीवन में प्रशस्तता आये। फिर भी, वैज्ञानिकों के लिये पूर्वजन्म कृत कारण और वर्तमान कार्य तथा वर्तमान कारण एवं भावी कार्य के बीच सम्बन्धों को प्रयोग सिद्ध करना अभी भी एक समस्या बनी हुई है।

### कर्म का सामान्य विवरण

कर्म की प्रकृति को समझाने के लिये अष्टपाहुड के समान अनेक शास्त्रों में एक दर्जन से अधिक उपमानों का प्रयोग किया गया है। कर्म राजा, शत्रु, पर्वत, काजल, कीट, ईधन, रज (धूलि), बीज, कलंक, चक्र, विष, वन, बेड़ी एवं मल के समान है। यह लता, वृक्ष, रितु, धारा-प्रवाह तथा रस्सी के समान है।<sup>7</sup> नये युग में नई उपमायें भी सामने आई हैं। मारेट<sup>8</sup> ने इसे वायरस बताया है और मर्डिया<sup>9</sup> ने चुंबक कहा है। इन उपमानों से कर्म की प्रकृति, कार्य और प्रभाव का अनुमान स्वयमेव लग जाता है। कर्म की विशेषता यह है कि यह सशरीरी जीव के साथ सम्पर्क कर सकता है। अन्य भौतिक पदार्थों में यह लक्षण नहीं पाया जाता।

हमारा सशरीरी जीव मूर्त शरीर और अमूर्त आत्मा का संयुक्त रूप है। मूर्त शरीर

कर्म-प्रचय है और यह नामकर्म के अनेक सूक्ष्म (तेजस, कार्मण) और स्थूल (औदारिक आदि) रूपों से निर्मित है। शरीर और आत्मा दोनों विजातीय (मूर्त-अमूर्त) द्रव्य हैं। उनका सामान्यतः संयोग नहीं हो सकता। इस विषय में जानने-देखने की क्रिया के समान अथवा आकाश-पुद्गल संयोग के समान मूर्त-अमूर्त संयोग का निदर्शन बहुत रुचिकर नहीं लगता।<sup>10</sup> फिर भी, इनका प्रथम संयोग कैसे हुआ, इसकी कोई व्याख्या शास्त्रों में नहीं पाई जाती। पर व्यावहारिक दृष्टि से व्यावहारिक जीवन की व्याख्या के लिये जीवन का प्रादुर्भाव सशरीर जीव (शरीर+आत्मा) के रूप में अनादिकाल से माना जाता है। सशरीर जीव मूर्त है, अतः उससे मूर्त कर्मों का संयोग तो हो ही सकता है। पुनर्जन्म का आधार भी मृत्यु के समय सूक्ष्म-शरीरी जीव का गमन है। इस संयोग के निरन्तर परिवर्तन/परिवर्धनशील होने से ही संसार की प्रक्रिया चलती है। यदि ऐसा न माना जाय तो संसार, कर्मबन्ध और मोक्ष सभी की अस्तित्व-हानि होगी।<sup>11</sup>

कुन्दकुन्द के अनुसार, प्रायोग्य-कर्म वर्णायें स्कन्ध के छह भेदों में से पंचम कोटि की है।<sup>12</sup> अनन्तानन्त परमाणु मिलकर ये कर्म-वर्णायें बनाते हैं और समुच्चित होकर बन्धनीय कर्म का रूप ग्रहण करती हैं।<sup>13</sup> ये जीव की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियों के अनुरूप बृहत्तर बनती जाती है और आस्रव के रूप में बन्ध के लिये आकृष्ट होती है। इस प्रकार जघन्यतः एक बन्धनीय कर्म-यूनिट (अनन्तानन्त)<sup>2</sup> परमाणुओं से निर्मित होता है--

1. कर्म-यूनिट = अनन्तानन्त परमाणु \* अनन्तानन्त वर्णायें

= (अनन्त) + A. V.

A = परमाणु      V = वर्णायें

शास्त्रों में वर्णायें का सजातीय परमाणु समूहों V का उत्तरोत्तर स्थूलता के आधार पर वर्गीकरण किया गया है। इसके अनुसार,

तेजस-शरीर वर्णायें = (अनन्त)<sup>4</sup> परमाणु

कार्मण शरीर वर्णायें = (अनन्त)<sup>10</sup> परमाणु

यह स्पष्ट है कि किसी भी कर्म यूनिट में अनन्त परमाणु समुच्चय होते हैं, फिर भी वे इन्द्रिय अग्राह्य एवं परम सूक्ष्म होते हैं। सूक्ष्मता के साथ ऊर्जामयता का अविनाभावी सम्बन्ध है। सूक्ष्मता जितनी ही उच्च कोटि की होगी, कर्म की ऊर्जाशक्ति भी उतनी ही अधिक होगी। यह तथ्य होम्योपैथी की दवाइयों की "पोटेंसी" एवं तरल औषधियों की क्षमता से प्रकट होता है। मूर्तिक कर्मों की इतनी अधिक सूक्ष्मता उन्हें अमूर्त के समकक्ष बनाती प्रतीत होती है।

**कर्मबन्ध : बन्धनगुण और प्रक्रिया**

मूर्त जीव एवं मूर्त कर्म-परमाणुओं में योग कषायादि प्रवृत्तियों के कारण आकर्षण और संयोग होता है। हमारा सशरीरी जीव, भगवती के अनुसार, कर्म के साथ अन्योन्यबद्ध और स्पष्ट है और ऐसा लगता है जैसे इस प्रक्रिया में विशेष प्रकार का स्नेह या चिपकावक (स्निग्धता) काम कर रहा हो।<sup>14</sup> जीवित तन्त्र के साथ विजातीय निर्जीव कर्म-द्रव्य के संयोग

के सम्बन्ध में शास्त्रों में पर्याप्त चर्चा है और आधुनिक विद्वानों ने भी इस पर विचार किया है। यही नहीं, इस संयोग के प्राथमिक एवं द्वितीयक कारणों को लेकर अनेक वर्षों से विचारों की अस्पष्टता बनी हुई है। यदि आगम और आगम तुल्य ग्रन्थों को कालक्रम से व्यवस्थित कर उस प्रक्रिया का अध्ययन किया जाय, तो अनेक परम्परायें प्राप्त होती हैं जो एक-दूसरे का सूक्ष्म और स्थूल रूप प्रतीत होती हैं।

यह माना जाता है कि दो बंधनीय मूर्त पदार्थों में कुछ बन्धनकारी गुण होने चाहिये। उदाहरणार्थ, परमाणुओं में बन्ध, स्निग्धता या रुक्षता उसके परिमाण पर निर्भर करता है।<sup>15</sup> इसी प्रकार सशरीरी जीव और कर्म यूनिटों में भी ये गुण होने चाहिये। संयोग या बन्ध इन गुणों की परस्पर विरोधिता एवं गुणात्मक आकर्षणीयता के कारण होता है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि बन्धता के गुण बन्धनीय सभी घटकों में होने चाहिये। किसी एक घटक में भी (जीव, कर्म) इन गुणों के अभाव में बंधन नहीं होगा। सामान्यतः यह स्पष्ट है कि जीव भी सकर्म है और प्रायोग्य कर्म भी कर्मयोग्य हैं। एक घटक जीव के साथ रहता है और दूसरा घटक उसके बाहर चारों ओर रहता है। इन दोनों घटकों में ही बन्धन-गुण होना चाहिये।

चारों ओर फैले हुए कर्म-परमाणुओं में तो स्वाभावतः स्निग्धता-रुक्षता पाई जाती है। पर जीव-सहचरित कर्मद्रव्यों में यह गुण कहाँ से आता है? प्रत्येक जीवित तन्त्र गतिशील, परिणमनशील एवं ऊर्जामित्र होता है। इसमें सदैव राग, द्वेष आदि भावात्मक प्रवृत्तियाँ होती रहती हैं। इन भावात्मक प्रवृत्तियों को भावकर्म कहते हैं। ऐसा माना जाता है कि अच्छे भावों की गुणात्मकता, अशुभ भावों से भिन्न होती है। भगवती<sup>16</sup>, प्रवचनसार<sup>17</sup> और परमात्मप्रकाश<sup>18</sup> में इस द्विषयक विवरण का सार निम्न है--

1. मोहभाव, द्वेषभाव - अशुभकर्म/पापकर्म भारीकर्म, ऋणात्मक, रुक्ष
2. रागभाव - शुभ/अशुभकर्म हल्का/भारी ऋण/धन, रुक्ष, स्निग्ध
3. अनन्त सुख आदि - चार शुभकर्म हल्काकर्म धनात्मक, स्निग्ध

इससे स्पष्ट है कि हमारी शुभ-अशुभ भावात्मक प्रवृत्तियों के गुण भिन्न-भिन्न होते हैं। फलतः इन प्रवृत्तियों से सहचरित परमाणुओं में भी बन्धन-गुण पाये जाते हैं। भावकर्मों के समान द्रव्यकर्मों में तो ये गुण और भी स्पष्ट होते हैं। वस्तुतः भावकर्म और द्रव्यकर्मों की अन्योन्यप्रभाविता का एक अविरत चक्र है--

भावकर्म - द्रव्यकर्म

इस चक्र को भूत, भविष्य और वर्तमान के रूप में विस्तारित भी किया जा सकता है।

पूर्व-अर्जित द्रव्यकर्म -- वर्तमान भावकर्म  
भावकर्म -- वर्तमान द्रव्यकर्म (भावी)

फलतः कर्म का एक रूप दूसरे रूप में चक्रीय रूप से प्रभावित होता रहता है। इन दोनों में जन्म-जनक या निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पाया जाता है। भावकर्म मुख्यतः मानसिक, Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



अन्तरंग और चेतनाजन्य प्रवृत्तियों का प्रतीक है। इसे चेतनवत् भी माना जाता है।<sup>19</sup> द्रव्य कर्म भौतिक कर्मों के प्रतीक हैं। भावकर्म सामान्यतः अदृश्य हैं पर इनका प्रभाव द्रव्यकर्म के रूप में दृश्य और अदृश्य दोनों प्रकार का हो सकता है। इस प्रकार ये दोनों कर्म रूप जीव के मनो-दैहिक तन्त्र को निरूपित करते हैं। ये रूप ही विविध रूपों में बन्धक का काम करते हैं। इनके परमाणु समुच्चयों में परिमाणात्मक तथा प्रकृतिगत भिन्नताओं के कारण बन्धन गुणों में तर-तमता पाई जाती है। सामान्यतः भावकर्म द्रव्यकर्म से सूक्ष्मतर होते हैं।

स्निग्ध-रूक्ष गुण के अतिरिक्त बन्धनीय कर्मों में आन्तरिक प्राकृतिक ऊर्जा भी होनी चाहिये। यह तो उनमें होती ही है, नहीं तो कर्मबल, कर्मशक्ति आदि शब्दों के प्रयोग क्यों होते ? "करम बड़ा बलवान, करमगति टारै नाहिं टरी" आदि कहावतें कैसे प्रसार पातीं ? शुद्ध आत्मतत्त्व में इसका मान अनन्त होता है पर भावकर्म और द्रव्यकर्मों में यह ऊर्जा काफी कम होती है क्योंकि चेतनीभूत भावकर्मों अथवा अचेतन द्रव्य कर्मों की पर्याप्त ऊर्जा स्वयं उनके कर्मरूप समुच्चयन की प्रक्रिया में समाप्त हो जाती है। फिर भी, यह इतनी अवश्य होती है कि कर्म और सशरीरी जीव का बन्ध निरन्तर होता रहे। बन्धनकारी घटकों की प्रकृति, परिमाण की भिन्नता, ऊर्जामयता एवं गुणात्मक भिन्नता के कारण कर्म और जीव में बन्ध सम्भव है। इन्हीं बन्धन गुणों को शास्त्रों में अव्याख्यात रूप से तेल, गोंद, स्नेह या चिपकावक के रूप में बताया गया है।

बन्धनीय घटकों में बन्धन-गुण होने पर बन्ध की प्रक्रिया की ओर ध्यान देना स्वाभाविक है। उस विषय में भी यह मान्यता है कि कर्म की द्विरूपता के समान बन्ध भी दो प्रकार का होता है -- भावबन्ध और द्रव्य बन्ध। जीव के पूर्वोपाजित कर्म एवं अन्य बाह्य कारकों द्वारा उत्पन्न होने वाले दर्शन-चारित्र-मोह रूप परिणामों के कारण जो कर्म-परमाणु आकृष्ट होते हैं, संश्लिष्ट होते हैं, वह भाव बन्ध है। इसीलिए कुन्दकुन्द ने भावों की परिणति को जीव बन्ध कहा है। उन्होंने जीव और पुद्गल के बन्ध को जीवाजीवबन्ध कहा था। द्रव्य कर्मों के कारण जो बन्ध होता है, उसे द्रव्यबन्ध कहते हैं। प्रवचनसार में द्रव्य कर्म-द्रव्य कर्म (पुद्गल) जीव-भावकर्म (जीव बन्ध) एवं भावकर्म द्रव्यकर्म (जीव-पुद्गल बन्ध) के भेद से बन्ध को तीन प्रकार का भी बताया है।<sup>20</sup>

शास्त्रों में यह भी बताया गया है कि बन्ध योगात्मक और भावात्मक कारणों से, क्रियाओं और प्रवृत्तियों से होता है। इनसे सर्वत्र व्याप्त कर्म-परमाणु आकृष्ट होकर कर्म-योग्य वर्गणाओं का निर्माण कर बन्ध योग्य कर्म के रूप में परिवर्तन होते हैं जो सशरीरी जीव के साथ बँध जाते हैं। इस बन्ध के तीव्र-मन्द स्वरूप के लिये अतिरिक्त कारण भी हो सकते हैं। समग्रतः कर्मबन्ध एक पंच-चरणी प्रक्रिया है--

सशरीरी जीव -- भावकर्म -- भावास्रव -- कर्म-वर्गणा -- कर्मप्रकृति --

(योग) (प्रदेश)

स्थिति-अनुभागबन्ध कषायादिभाव

कर्मबंध की शास्त्रीय प्रक्रिया को आधुनिक वैज्ञानिक भाषा में किस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है ? यदि यह केवल मूर्त-मूर्त बंध होता, तो आज के भौतिक एवं रसायनशास्त्री इसकी व्याख्या इसके योगात्मक और प्रतिस्थापनात्मक आधार पर करते। वे स्निग्धता-रुक्षता या आवेश भिन्नता के आधार पर भौतिक और रासायनिक संयोगों की व्याख्या तो करते ही हैं लेकिन कर्मबंध की यह विशेषता है कि यह बंध केवल जीवित तंत्र और अचेतन तंत्र के बीच होता है। फिर भी, यह बंध शरीर पर वस्त्र और साँप पर केंचुली के समान नहीं होता। इनके बन्धन के लिये अनेक कारकों के साथ कषायों का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। फिर भी, ऐसा प्रतीत होता है कि परमाणुओं के कर्मवर्णना और कर्म रूप में परिणत होने की प्रक्रिया संभवतः रासायनिक हो सकती है क्योंकि इसमें परमाणु अन्तर्निबद्ध होकर सूक्ष्मता को प्राप्त करते हैं लेकिन कर्म और जीव के बंध की प्रक्रिया के अन्यानुप्रवेशन एवं एक क्षेत्रावगाही होने के कारण इसकी प्रकृति भौतिक अधिक प्रतीत होती है। इसीलिये यह बन्ध अंतरंग एवं बहिरंग तप और ध्यान की प्रक्रिया से होने वाली आन्तरिक ऊर्जा की वृद्धि से विच्छिन्न हो सकता है। एक रसायनशास्त्री ने भाव-क्रियात्मक वृत्तियों से सर्वत्रव्याप्त कर्म परमाणुओं में उत्तेजनपूर्वक समुच्चयन एक सक्रियण की बात तो अवश्य कही है<sup>21</sup> पर उसकी भौतिक-रासायनिक प्रकृति के विषय में मौन रखा है। उनका यह कथन सही है कि बंध दशा में कर्म-वर्णनायें अपनी प्राथमिक दशा में रहती हैं।

### बन्ध के कारण आस्रव द्वार

जैन दर्शन ने दो आधारों पर तत्त्वों का वर्गीकरण किया है। आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से सात तत्त्व हैं। भौतिक विवरण की दृष्टि से छः द्रव्य हैं। कर्मवाद अध्यात्मशास्त्र का एक अनिवार्य अंग है। इसके अन्तर्गत संसार हेतुओं के रूप में आस्रव और बंध तत्त्वों का निरूपण है। कर्म के आगमन या आकर्षण द्वारों को आस्रव कहते हैं और कर्मों के जीव प्रदेशों में अनुप्रवेशान को बंध कहते हैं। सामान्य दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है की इन दोनों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है लेकिन आस्रव और बंध के कारण समान ही बताये गये हैं। संसारी जीवों के योगात्मक आस्रव इंद्रिय, कषाय, अविरति और क्रियायें योग के रूप में कहे गये हैं। बंध के कारण भी यही हैं क्योंकि क्रियाओं में मिथ्यात्व और मिथ्यादर्शन समाहित है।<sup>22</sup> यही नहीं, आस्रव कारणों को प्रतिनियत अनुभाग बन्ध में भी हेतु बताया गया है।<sup>23</sup> साथ ही महाप्रज्ञ का कथन है कि प्रवृत्ति और कर्मबन्ध का काल समक्षणिक है। आस्रव मूलक कर्माजर्ज और कर्मबन्ध के काल में कोई अन्तर नहीं होता।<sup>24</sup> वह बात अलग है कि बन्ध का परिपाक और स्यायित्व कैसा होता है। इस तरह कर्म-बन्ध के दो चरण होते हैं-- प्रथम चरण में अनुप्रवेश मात्र होता है और द्वितीय चरण में उसके स्थिति अनुभाग मिश्रित होते हैं। द्वितीय चरण कारकों की तीव्रता, मंदता के आधार पर तुलनात्मकतः अधिक स्यायी होता है। प्रथम चरण की समक्षणिकता की दृष्टि से आस्रवकारक और बन्धकारकों में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि योग भी कषाय रूप है और कषाय भी योग रूप है। हाँ, द्वितीय चरण में कषाय को अतिरिक्त प्रमुखता दी जा सकती है यद्यपि कषाय शब्द की व्याख्या में विभिन्न शास्त्रों और अनेक विद्वानों में

मतभेद दिखता है।

आस्रव द्वारों या बन्ध हेतुओं के विषय में शास्त्रों में संक्षेप और विस्तार से चर्चा है। ऐसा प्रतीत होता है कि मोह और योग के विविध रूप ही भावात्मक हैं। ये परिणाम ही लोकव्यापी कर्म-परमाणुओं को कर्मरूप में परिणत कर बन्धित होते हैं। फिर भी विभिन्न ग्रन्थों में इन बन्ध हेतुओं को विविध प्रकारों से व्यक्त किया गया है। श्वेताम्बर ग्रन्थों में इन्हें आस्रवद्वार कहा गया है--

संदर्भ, गाथा	1	2	3	4	5	6	7	संख्या
मोह	-	-	-	-	-			1
प्रवचनसार, 187						- रागद्वेष	-	- 2
ध्वला, 12, 288 <sup>25</sup>	-	-	-	-	-	कषाय - योग	-	- 2
प्रवचनसार, 188	मोह	-	-	-	-	राग द्वेष	-	3
समयसार 109	मिथ्यात्व	अविरति	-	कषाय	-	योग	-	4
समयसार, 190	मियात्व	अविरति	-	-	-	योग अज्ञान		4
तत्त्वार्थसूत्र, 8.1 <sup>26</sup>	मिथ्यात्व	अविरति	प्रमाद	कषाय	-	योग	-	5
समयसार, 132	मिथ्यात्व	अविरति	-	कषाय	-	योग अज्ञान		6
समयसार, 87 <sup>27</sup>	मोह	अविरति	प्रमाद	क्रोधादिक	-	योग अज्ञान		6

ऐसा प्रतीत होता है कि उमास्वाति ने भगवती, स्थानांग और समवायांग<sup>28</sup> के आस्रव-द्वारों का अनुसरण कर बन्धकारणों को पाँचरूप्य दिया है। उन्होंने कुन्दकुन्द की विविधता को सप्त तत्त्वों के समान पंच हेतुओं में स्थिर किया। इसे उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी माना है। इन प्रकारों में मोह या मिथ्यात्व को प्रथम स्थान प्राप्त है। इसका पूर्ण विलोपन सम्भव नहीं दिखता, इसके होने पर अन्य प्रत्यय होते हैं। उत्तरवर्ती द्विरूपता की व्याख्या इस समय चर्चा में है। इस चर्चा में प्रथम सदस्य मियात्व (70 कोडाकोडी सागरोपम आयु, प्रबलतम, भाव योगात्मक) की स्थिति दयनीय हो गई है। उसका नामलेवा परेशानी में है क्योंकि अविरति और प्रमाद तो कषाय में गर्भित हो जाते हैं (यद्यपि भगवती में प्रसाद को क्रिया या योग माना है)<sup>29</sup> और योग का स्वतन्त्र अस्तित्व माना जाता है। इसमें मिथ्यात्व क्यों गर्भित नहीं माना जाता, यह समझ में नहीं आया।

तत्त्वार्थसूत्र 8.1 की टीका में मिथ्यादर्शन को क्रियासू अंतर्भूत कहा है।<sup>30</sup> छठवें अध्याय के पाँचवें सूत्र में इसे सांपरायिक आस्रव की सकषायी योगप्रवृत्तियों में परिगणित किया है।<sup>31</sup> अजीव मिथ्यात्व को कुन्दकुन्द ने भी कर्म माना है।<sup>32</sup> योगात्मक प्रवृत्ति के अतिरिक्त, इसकी भावात्मकता तो प्रसिद्ध ही है क्योंकि कुन्दकुन्द ने सभी आस्रव द्वारों को भाव एवं द्रव्य या चेतन-अचेतन रूप माना है। मूलाचारटीका 168 में भी मिथ्यात्व को भावात्मक रूप में बताकर उसे स्थिति अनुभाग बन्धक बताया है। ये भाव-प्रत्यय ही द्रव्यप्रत्यय में कारण होते हैं। भास्करनन्दि ने भी सूत्र 8.1 की टीका में<sup>33</sup> "तत्रकषायपर्यता" स्थित्यनुभागाहेतवः कहकर

मिथ्यात्व को कषाय में ही गर्भित कर दिया है। विद्यानन्द तो इससे भी आगे जाते हैं। वे पाँचों कारकों को कसायैकार्थसमवायी मानते हैं।<sup>34</sup> पूज्यपाद और अकलंक भी इन कारकों को समग्र या व्यस्तरूप से बन्ध हेतु मानते हैं।<sup>35</sup> मुनि कनकनन्दि भी "कषाय" शब्द को 8.2 में अभेद-विवक्षित एवं अंतदीपक मानकर उससे सभी कारकों का अर्थ ग्रहण करते हैं।<sup>36</sup> यही नहीं प्रथम गुणस्थान में सोलह प्रकृतियों का बन्धमूल मिथ्यात्व ही है।<sup>37</sup>

धवला 12 सूत्र 8-10 में भी राग, द्वेष और मोह को वेदना प्रत्ययों में माना है।<sup>38</sup> वहाँ मोह शब्द से दर्शनमोह मिथ्यात्व के ग्रहण की बात अर्थापत्ति से तो आती है पर जयसेन ने उसे भी स्पष्ट किया है।<sup>39</sup> यही नहीं, धवला के प्रश्नोत्तर में यह भी बताया गया है कि द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा सभी कारक बन्ध प्रत्यय हैं परन्तु रिजु-सूत्रनय की अपेक्षा वर्तमान काल की दृष्टि से योग और कषाय बन्धकर हैं। इससे जैन अनेकान्तवाद की पुष्टि तो होती ही है, मिथ्यात्व की सामान्य बंधकरता ( कम से कम प्रदेश-प्रकृतिबन्ध ) भी सिद्ध होती है।

तत्त्वार्थसूत्र में योग-कषाय-सम्बन्धी रिजुसूत्रनयी चर्चा ही नहीं है। इसीलिये अकलंक आदि ने पाँचरूप्य के द्विरूप समाहरण की कोई युक्ति नहीं दी है। ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः उस समय इस विषय में दो परम्परायें -- धवलागत और आगमिक परम्परायें रही हों। उमास्वाति ने आगमिक परम्परा स्वीकृत की जबकि अन्य आचार्यों ने धवला परम्परा मानी। इससे भूतकाल में तो तत्त्व भेद नहीं हुआ। वर्तमान की आंधी भी छट जायेगी, ऐसा लगता है।

यद्यपि टीकाकारों ने तत्त्वार्थसूत्र 8.2 के "सकषायत्वात्"<sup>40</sup> पद को लेकर विवक्षाविषयक प्रश्न तो नहीं उठाया पर कषाय शब्द की पुनरावृत्ति विषयक प्रश्नोत्तर में पाचन में जठराग्नि के समान कषाय की किंचित् महत्ता अवश्य सिद्ध की है।<sup>41</sup> इसके विपर्यास में कुन्दकुन्द ने जठराग्नि की चर्चा करके भी कषाय का नाम ही नहीं लिया है।<sup>42</sup> इस महत्ता को मिथ्यात्व हेतुक नकारात्मकता में कैसे परिणत किया जा सकता है ? मुझे लगता है कि भास्करनन्दि के युग में इस तरह का प्रश्न अवश्य उठा होगा, तभी तो उन्होंने 8.1 व 2 की टीका में सारी बातें स्पष्ट कर दी हैं। पं० टोडरमल भी मिथ्यात्व एवं कषाय को अन्योन्य समाहारी मानते हैं।

मिथ्यात्व पद कई रूपों में प्रयुक्त हुआ है। मिथ्यात्व भाव, मिथ्यात्व क्रिया, मिथ्यात्व प्रकृति, मिथ्यात्व गुणस्थान, मिथ्यादर्शन आदि। इसके उपयोग में विवक्षागत कारक होता है। मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व होता है। यहाँ एक ही पद के लिये दो कारकों का प्रयोग है। मिथ्यात्व गुणस्थान अधिकरण हो, इसमें क्या आपत्ति है, पर मिथ्यात्व भावसाधन या करणसाधन न हो, यह संगत लगता है। भास्करनन्दि ने इस विषय में भी स्पष्ट किया है।

फलतः क्रिया और कर्मात्मक मिथ्यात्व को योगरूप में और मिथ्यात्वभाव को कषाय में गर्भित कर इसे सभी बन्धों में बन्धक मानना चाहिये। उपरोक्त शास्त्रीय आधारों पर कर्मबन्ध और उसकी प्रक्रिया के पृष्ठ 17, 19 एवं 40 में वर्णित इस आशय के वाक्य<sup>43</sup> सही नहीं

लगते कि मिथ्यात्व चारों प्रकार के बन्धों में कारण नहीं है। कुछ विद्वानों द्वारा लिखी गई एतद्विषयक टिप्पणियों तथ्यों का सही रूप में विश्लेषण करती प्रतीत नहीं होती।

### विविध प्रकार के कर्मबन्ध

जीवित तंत्र और कर्म-वर्गणाओं के बीच बन्ध की सम्भावना से यह प्रश्न स्वाभाविक है कि यह किस रूप में प्रकट होता है। शास्त्रों में इसकी चार कोटियाँ बताई गई हैं। कुन्दकुन्द का क्रम इनके लिये सुसंगत लगता है-- प्रदेश, प्रकृति, स्थिति और अनुभाग।<sup>44</sup> अन्य ग्रन्थों में इनका क्रम भिन्न है। इस क्रम-भिन्नता पर टीकाकारों और विद्वानों का ध्यान गया है, ऐसा नहीं लगता। इसे कुन्दकुन्द के क्रम के अनुरूप होना चाहिये। प्रत्येक कर्म-यूनिट अनन्तानन्त कर्मवर्गणाओं का समूह होता है। कर्म-यूनिट में विद्यमान प्रदेशों में समुच्चयन या संख्यान को प्रदेश बन्ध कहते हैं। इन प्रदेश समुच्चयों के आधार पर ही कर्म की प्रकृति निर्भर करती है। प्रत्येक समुच्चय की अपनी-अपनी ऊर्जा होती है। यह पाया गया है कि सभी प्रकार के प्रदेश समुच्चय आठ प्रकार के रूप ग्रहण करते हैं जिन्हें आठ कर्म कहते हैं। इन कर्मों के ज्ञान-दर्शन आदि के आवरण या अवरोधन के कार्य होते हैं। इन कार्यों के आधार पर बनने वाली कर्म-प्रकृति को प्रकृतिबन्ध कहते हैं। यह बन्ध द्रव्य कर्म का रूप ग्रहण करता है। शरीरी जीव के विभिन्न प्रकार के राग-द्वेष-मिथ्यात्वादिक भाव एवं प्रवृत्तियाँ अपनी ऊर्जा एवं योग्यता के अनुसार कर्म प्रदेशों को आकृष्ट कर ज्ञानावरणादिक कर्मों में परिणत होती हैं। फलतः प्रदेश और प्रकृति बन्ध पूर्वक्रियायें हैं और आस्रव के समक्षणिक हैं। इन्हें मानसिक (भाव), वाचिक और कायिक प्रवृत्तियों के समुच्चय या व्यष्टि से-योग से-निष्पन्न कहा गया है। पर जैसा पहले कहा गया है, योग पद में मिथ्यात्वादि भाव और प्रवृत्तियाँ समाहित हैं। समयसार, गाथा 262 भी इस तथ्य का समर्थन करती है।<sup>45</sup> यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि योग भी तीव्र और मंद आदि न्यूनाधिक ऊर्जा वाले होते हैं।

जठराग्नि के समान कषायों की तीव्रता और मंदता से प्रवृत्तियों में दृढ़ता एवं शिथिलता आती है। कर्मबन्ध भी तदनुरूप होता है। इससे यह निश्चय होता है कि कर्मबन्ध का स्थायित्व (जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट) क्या है ? कितने समय तक यह अपने कार्य करेगा ? विशिष्ट कर्म के अपने स्वभाव से अविचलित होकर कार्य करते रहने की समय-सीमा को स्थिति कहते हैं। इस समय-सीमा से सम्बन्धित बन्ध स्थिति बन्ध कहलाता है। विभिन्न कर्मों की इसीलिये भिन्न स्थिति होती है।

यह स्थिति बन्ध, कर्म प्रकृति के अनुसार उसके विपाक में कारण बनता है। वस्तुतः स्थितिबन्ध ही बन्ध की दृढ़ता एवं उसके विपाक की तीव्रता/मंदता का अनुमान देता है। विपाक से कर्म उदय पर आता है और कर्मफल प्राप्त होता है। बंधे हुए कर्म तत्काल फलदायी नहीं होते। प्रत्येक कर्म का विपाक, पशुओं के दूध की प्रकृति के समान, भिन्न-भिन्न होता है। इस विपाक-जनित बंध को, फलदान क्षमता की प्रवृत्ति को अनुभव या अनुभाग (दोनों नाम प्रचलित हैं) बंध कहते हैं। यह भी तीव्र, मंद और मध्यम कोटि का होता है। इसे जीर्ण रोष के परिपाक के समान समझना चाहिये।

बन्धों के लिये सामान्य के अतिरिक्त विशिष्ट कारक भी होते हैं। पहले दो बन्धों की तुलना में बंध अधिक स्थायी और कार्यकारी होते हैं। इनके नियम भी इसीलिये विशिष्ट हैं। धवला में रिजुसूत्रनयी दृष्टि से विशिष्ट कारक को "कषाय" कहा है, तथापि वहीं द्रव्यार्थिकनयी दृष्टि से अन्य कारकों को भी इस बन्ध में भी सामान्यतः समर्थ बताया है। फिर, हमारा धर्म तो भूत और भविष्य पर निर्भर करता है। उसमें इस प्रकरण में वर्तमान काल की ऐकान्तिकता की गुंजाइश ही कहाँ है ? यदि धवला के अनुसार, मिथ्यात्व और कषाय की मोहात्मकता न भी मानी जावे, तो भी पूज्यपाद, विद्यानन्द, वसुनन्दि, जयसेन और भास्करनन्दि ने अनुभाग विशेष नियम की उत्पत्ति हेतु कषाय पद के अन्तर्गत न केवल मिथ्यात्व को ही, अपितु योग को भी समाहित कर दिया है। अकषायी गुणस्थानों में तो योग को ही सर्वसमर्थ मानना होगा। साथ ही, मिथ्यात्व को कषायों की अपेक्षा विशेष अन्तरंग बहिरंग कारण भी बताया गया है। नहीं तो अकलंक दर्शनमोह के उपशम से औपशमिक चारित्र कषायादि के होने की बात कैसे कहते ?<sup>46</sup> पुष्पदंत-भूतबलि से लेकर पं० टोडरमल तक कषाय को मिथ्यात्व में कैसे गर्भित करते ? ऐसी स्थिति में कषाय शब्द को व्यापक अर्थ में लेना चाहिये ? फलतः अनेक शास्त्रों में वर्णित होगा पर्याडपदेसा, टिदि अणुभागा कसाययो होति की ऐकान्तिक धारणा पुनर्विचार चाहती है। ऐसे पुनर्विचार भूतकाल में भी किये गये हैं। अकलंक ने प्रत्यक्ष के दो विरोधी से भेद किये और अनुयोगद्वार ने परमाणु के दो भेद किये। नया युग भी सामंजस्य के लिये नयी व्याख्यायें चाहता है। आगम चक्षु का अर्थ शब्दपरकता नहीं है, तत्त्वार्थपरकता है।

### सन्दर्भ

1. विपिनबिहारी, "ओकल्ट इंडिया", जनवरी 1987
2. एस० ओहीरा, "स्टडीज इन जैनिज्म", आई० पी० पी० पब्लिकेशन, पूना, 1984
3. आचार्य पुष्पदंत भूतबलि, "षट्खण्डागम-1", जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, 1985
4. कार्लो जे० निकल्सन, इंडियन थ्योसोफिस्ट, वाराणसी, 1987
5. युवाचार्य महाप्रज्ञ, "कर्मवाद", जैन विश्वभारती, लाडनूँ, 1985, पृ० 12, 42
6. जैन, एन० एल०, "जैन जर्नल", अप्रैल, 1988, पृ० 120-139
7. (अ) कुमार, ए०, कै० च० शास्त्री ग्रन्थ, रीवाँ, 1980, पृ० 207  
(ब) पॉल मारेट, जैनिज्म एक्सप्लेन्ड, लेस्टर, 1988  
(स) मर्डिया, के० वी०, "साइण्टिफिक फाउण्डेशन आफ जैनिज्म" दिल्ली, 1990
8. पॉल मारेट, जैनिज्म एक्सप्लेन्ड, लेस्टर, 1988
9. आचार्य कुन्दकुन्द, प्रवचनसार, पाटनी ग्रन्थमाला, मारोठ 1950, पृ० 74, 221
10. उपाध्याय कनकनन्दि, कर्म का दार्शनिक वैज्ञानिक विवेचन, धर्मदर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन, बड़ौत, 1990, पृ० 70, 79, 10, xii
11. आचार्य कुन्दकुन्द "नियमसार" सी० जे० पी० एच०, लखनऊ, 1931, पृ० 13
12. अकलंक, राजवार्तिक - 2, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1957, पृ० 497, 532, 561,

564-565

13. भगवती सूत्र ( अंग्रेजी अनुवाद ), जैनभवन, कलकत्ता, 1975, पृ० 57, 98, 124
14. पुष्पदन्त भूतबलि, षट्खण्डागम ( धवला - 12 ), अमरावती, 1955, पृ० 283-285, 288
15. आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, कुन्दकुन्द भारती, दिल्ली, 1978, पृ० 88, 122, 139, 211, 192
16. भगवती ( अंग्रेजी अनुवाद ), पृ० 57, 98, 124
17. उपाध्याय, कर्म का दार्शनिक वैज्ञानिक विवेचन, पृ० 70, 79
18. वही ।
19. वही ।
20. प्रवचनसार, पृ० 221, 74
21. उपाध्याय, कर्म का दार्शनिक वैज्ञानिक विवेचन, पृ० 70-79
22. अकलंक, राजवार्तिक, पृ० 508, 532, 561, 564-565, 585
23. वही ।
24. कुन्दकुन्द, समयसार, पृ० 66, 88, 99, 122, 139, 192, 211
25. षट्खण्डागम, ( धवला -12 ), पृ० 283-285, 288
26. राजवार्तिक-2, पृ० 497, 508, 532, 561-565
27. षट्खण्डागम, पृ० 283-285, 288
28. सुधर्मा, स्वामी ( क ) ठाणांग, जैन विश्वभारती, लाडनू, 1976, पृ० 580  
( ख ) समवायांग, वही, 1984, पृ० 17
29. "भगवती सूत्र ( अंग्रेजी अनुवाद ), जैनभवन, कलकत्ता, 1975, पृ० 57, 98, 124
30. अकलंक, "राजवार्तिक-2" भा० ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1957, पृ० 585, 497, 532, 561, 508, 564-565
31. वही ।
32. आचार्य, कुन्दकुन्द, समयसार, कुन्दकुन्द भारती, दिल्ली 1978, पृ० 88, 122, 139, 66, 99, 133, 211, 192
33. भाष्करनन्दि, तत्त्वार्थसूत्र टीका, मैसूर, 1944, पृ० 183-187
34. शास्त्री फूलचन्द्र, "अर्किचित्कर : एक अनुशीलन", काशी, 1990, पृ० 93, 43
35. अकलंक, "राजवार्तिक-2", भा० ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1957, पृ० 585, 497, 532, 561, 508, 564-565
36. उपाध्याय कनकनन्दि, "कर्म का दार्शनिक वैज्ञानिक विवेचन", धर्म दर्शन विज्ञान शोध प्रकाशन, वड़ौत, 1990, पृ० 70, 79, 10, XII.
37. शास्त्री, फूलचन्द्र, "अर्किचित्कर : एक अनुशीलन", काशी, 1990, पृ० 93, 43
38. पुष्पदन्त-भूतबलि, आचार्य, "षट्खण्डागम ( धवला-12 )", अमरावती, 1955, पृ० 288, 283-285
39. शास्त्री, फूलचन्द्र, "अर्किचित्कर : एक अनुशीलन", काशी, 1990, पृ० 93, 43

40. अकलंक, "राजवार्तिक-2", भा0 ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1957, पृ0 585, 497, 532, 561, 508, 564-565
41. वही ।
42. आचार्य, कुन्दकुन्द, समयसार, कुन्दकुन्द भारती, दिल्ली, 1978, पृ0 88, 122, 139, 66, 99, 133, 211, 192
43. शास्त्री, जगमोहनलाल, "कर्मबंध और उसकी प्रक्रिया", सतना, 1993
44. आचार्य, कुन्दकुन्द, समयसार, कुन्दकुन्द भारती, दिल्ली, 1978, पृ0 88, 122, 139, 66, 99, 133, 211, 192
45. वही ।
46. भट्ट अकामक, "राजवार्तिक-1", भा0 ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1953, पृ0 105

जैन केन्द्र, रीवाँ ( म0 प्र0 )



# महावीर निर्वाण-भूमि पावा : एक समीक्षा

- डॉ० जगदीशचन्द्र जैन

[ स्व० डॉ० जगदीश चन्द्र जैन, अपनी विद्वत्ता, स्पष्टवादिता और तटस्थ दृष्टि के कारण जैन विद्या के क्षेत्र में सदैव सम्मान से देखे जाते रहे हैं। उनका नाम किसी परिचय का मोहताज नहीं है। संस्थान से प्रकाशित भगवान महावीर निर्वाण-भूमि पावा : एक विमर्श, लेखक-- भगवती प्रसाद खेतान पर उनकी समीक्षा हमें उनकी मृत्यु के पश्चात् प्राप्त हुई जिसे हम यहाँ ज्यों का त्यों प्रकाशित कर उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। ] सम्पादक

जैन समाज अपने तीर्थ स्थानों के प्रति सजग नहीं रहा, शायद यह सम्भव भी नहीं था। सैकड़ों-हजारों वर्षों से इतिहास को ज्यों का त्यों सुरक्षित रख सकना आसान नहीं। अनेक तीर्थ ऐसे हैं जो परम्परा में कायम नहीं रहे, अनेक तीर्थ विच्छिन्न हो गये उन्हें भुला दिया गया, कितने ही तीर्थ स्थानांतरित हो गये उनके स्थानों पर नये तीर्थों की कल्पना कर ली गई। नदियों की भीषण बाढ़ के कारण भी पुरातत्त्व सम्बन्धी सामग्री को कम क्षति नहीं पहुँची। गण्डक नदी की बाढ़ से वैशाली के बौद्ध-स्तूप, अचिरावती ( राप्ती ) नदी की बाढ़ से सुप्रसिद्ध चेतवन विहार एवं अशोक स्तम्भ तथा बूढ़ी गंगा की बाढ़ से हस्तिनापुर जैसे नगरों का ध्वस्त हो जाना इसके उदाहरण हैं।

एलेक्जेंडर कनिंघम का सन् 1831 ई० में भारत आगमन हुआ। वे इतने प्रतिभाशाली व्यक्ति थे कि अपने आगमन काल से ही अपने सैनिक कार्य-कलाप के अतिरिक्त उन्हें जो समय मिलता उसका प्रत्येक क्षण भारतीय पुरातत्त्व की खोज में लगाने के लिए जुटे रहे। भारतीय पुरातत्त्व विद्या के वे जनक कहे जाने लगे। यह उन्हीं की प्रेरणा का फल था कि भारत सरकार द्वारा भारतीय पुरातत्त्व विभाग की स्थापना की गई।

अपने कार्यकाल में उन्होंने कितने ही ऐसे दुर्लभ स्थानों की पहचान की जिनसे हम अपरिचित थे। सन् 1862 से 1864 ई० तक अनेक बार उन्होंने वैशाली का दौरा किया और अपने तर्कपूर्ण खोजों से सिद्ध कर दिखाया कि फाहयान और हवेनसांग के विवरणों में उल्लिखित वैशाली नगरी यही है जिसे महावीर भगवान् ने अपने जन्म से पवित्र किया था। ध्यान रहे कि इसके पूर्व के जैन धर्मन्यायी नालन्दा के समीप स्थित कुण्डग्राम अथवा मुंगेर जिले के लङ्कूआड़ अथवा विशाला नाम से उल्लिखित उज्जयिनी को महावीर का जन्मस्थान स्वीकार करते थे।

आजकल चारों ओर जंगल से घिरी हुई श्रावस्ती (जिला बलरामपुर, गोंडा, 30 प्र०) का जैनों और बौद्धों के ग्रन्थों में विशिष्ट स्थान रहा है। अचिरावती (राप्ती) नदी की बाढ़ से यहाँ के निवासी अत्यन्त संत्रस्त थे। नगरी के सुप्रसिद्ध धनी अनार्थपिंडक, जिन्होंने जेतवन के विहार के निर्माण में बत्तीस करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ व्यय की थीं, का माल-खजाना इस नदी में बह गया। आवश्यकपूर्णा में इस बाढ़ का उल्लेख मिलता है। जैनों के तीसरे तीर्थंकर संभवनाथ के जन्म से यह नगरी पावन हुई। आश्चर्य है कि फिर भी इसे विच्छिन्न माना गया है -- जैन धर्मानुयायी तीर्थयात्रा के लिये यहाँ नहीं आते। विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि चौथी शताब्दी ई० के "अंगविज्जा" नामक प्राचीन जैन ग्रन्थ में श्रावस्ती की पहचान सहित महला नामक स्थान से की गई है। आगे चलकर सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता कनिंघम ने अपनी "एश्येण्ट ज्योग्राफी ऑफ इंडिया" में इसे साहेत-माहेत अथवा महेठि के नाम से प्रतिष्ठित किया। उन्होंने सन् 1862-63 में और पुनः 1876 ई० में इस नगरी को उत्खनन कराया और घोषित किया कि जैन और बौद्धकालीन कोशलदेश की राजधानी श्रावस्ती यही है जहाँ महावीर और बुद्ध ने विहार किया था। कितनी बड़ी त्रासदी है कि भगवान् महावीर के जन्म-स्थान की भाँति उनकी निर्वाण भूमि को भी उनके अनुयायियों ने भुला दिया। जबकि भगवान् बुद्ध के सम्बन्ध में यह बात नहीं हुई।

उल्लेखनीय है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में राजगृह के निकट लगभग 10 मील के फासले पर स्थित पावा को ही महावीर की निर्वाण-स्थली पावा माना जाता रहा है। यहाँ दीपावली के अवसर पर बड़ा मेला लगता है जिसमें जैनयात्री दूर-दूर से आकर शरीक होते हैं। यहाँ के जलमन्दिर में गौतम गणधर और सुधर्मा की पादुकाएँ निर्मित हैं।

लेकिन पुरातत्त्व सम्बन्धी आधुनिक खोजों से निष्कर्ष निकलता है कि वस्तुतः यह पावा भगवान् महावीर की निर्वाणस्थली नहीं है। पडरौना (जिला - देवरिया, उ.प्र.) के निवासी श्री भगवती प्रसाद खेतान ने अपनी "महावीर निर्वाण-भूमि पावा : एक विमर्श" (1992) नामक विद्वत्तापूर्ण कृति में इस विषय के अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत किये हैं।

कहना न होगा कि बुकनन ने सर्वप्रथम अपनी "हिस्ट्री ऐन्टिक्विटीज, टोपोग्रैफी, स्टैटिस्टिक्स ऑफ ईस्टर्न इंडिया" (पृ० 354) में पडरौना (पावा) का परिचय दिया है। यह प्रदेश गंडकी नदी के किनारे स्थित था और प्रति वर्ष बाढ़ से आप्लावित रहा था। यह बुकनन के प्रयास का ही परिणाम था कि सन् 1844 ई० में यहाँ के प्राचीन टीले का उत्खनन कराया गया। यहाँ तीन प्रतिमाओं की उपलब्धि विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिनका विवरण विद्वान् लेखक ने अपनी उक्त पुस्तिका में (पृ० 186-191) दिया है। इन प्रतिमाओं में पहली स्पष्ट रूप से पादपीठ पर स्थित चतुर्भुज भगवान् विष्णु की खड्गासनधारी प्रतिमा है। दूसरी प्रतिमा पद्मासनधारी कृष्ण पाषाण की 22वें तीर्थंकर नेमिनाथ की मानी जाती है। पहली प्रतिमा खड्गासन में है। नाभि के नीचे पुरुष की आकृति है किन्तु ऊपर की ओर उसका वक्षस्थल वस्त्र से आवृत्त है। यह विशाल मूर्ति खंडित है, गर्दन और भुजारहित है। कोई इसे बुद्ध की प्रतिमा

मानते हैं और कोई अर्धवस्त्रधारी जिन भगवान की प्रतिमा ।

आगे चलकर बुकनन से प्रेरणा प्राप्त कर सन् 1861-62 ई० में कनिंघम का यहाँ आगमन हुआ। उन्होंने अपनी "आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया रिपोर्ट" (पृ० 74) में यहाँ के पूर्व से पश्चिम 220 फीट लम्बे, उत्तर से दक्षिण 120 फीट चौड़े तथा भग्न ईंटों और कूड़े-कचरे से ढँके 14 फीट ऊंचे इस विशाल टीले का उत्खनन करवाकर विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। इस उत्खनन में उन्हें बहुत सी महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हुई। कनिंघम इस पडरौना गाँव को ही पावा मानते हैं, जहाँ भगवान महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया था।

कनिंघम ने अपने विवरण में एक और मूर्ति का उल्लेख किया है जिसे वे हट्टी भवानी के नाम से सम्बोधित करते हैं। इस मूर्ति के सिर पर तीन छत्र लगे हैं : मूर्ति नग्न जान पड़ती है, अतएव उनकी मान्यता के अनुसार यह मूर्ति जैन होनी चाहिए। सन् 1972 ई० में भगवतीप्रसादजी खेतान ने इस मूर्ति के दर्शन किये। उनके कथनानुसार यह अद्भुत काले पत्थर की बनी मूर्ति तीर्थंकर नेमिनाथ की है जिसकी सिन्दूर आदि लगाकर स्थानीय लोग पूजा करते हैं। मूर्ति के वक्षस्थल पर श्रीवत्स अंकित है। इस मूर्ति का भाग खंडित है, जो गोस्वामी तुलसीदास, पडरौना में रखा हुआ है। कला प्रेमी खेतानजी इस कलात्मक प्रतिमा को पडरौना की अमूल्य निधि मानते हैं। बड़े दुःखी हृदय से उन्होंने लिखा है "20 वर्ष के अन्तराल में खंडित होकर यह दुर्लभ कलाकृति विकृत हो चुकी है और यदि इसे सुरक्षित न रखा गया तो यह कृति मात्र इतिहास की वस्तु बनकर रह जायेगी।"

खेतानजी ने उक्त नेमिनाथ की मूर्ति के निकट पाकड़ वृक्ष की जड़ों में फँसी हुई अनेक मूर्तियों का उल्लेख किया है, जो वृक्ष के विस्तार के कारण वहीं दबी रह गयीं, जिनका उद्धार किये जाने की अत्यन्त आवश्यकता है। अपने सर्वेक्षण में उन्होंने कतिपय मूर्तियों का विवरण अपनी बहुमूल्य रचना में अंकित किया है। हमें लगता है कि भगवान् महावीर की निर्वाण-भूमि "पावा" का और अधिक सुनिश्चित रूप से पता लगाने के लिये इस विशाल टीले की व्यवस्थित खुदाई नितान्त आवश्यक है। इससे निश्चय ही ज्ञान हो सकेगा कि बुद्ध की निर्वाण-भूमि कसिया (कुशीनगर) से केवल 12 मील के फासले पर स्थित यह प्रदेश कितनी मात्रा में जैन, बौद्ध, शैव एवं वैष्णव संस्कृतियों का मिला-जुला महान केन्द्र रहा है, जहाँ भगवान् महावीर निर्वाण को प्राप्त हुए।

वाराणसी के पार्श्वनाथ शोधपीठ के अधिकारी धन्यवाद के पात्र हैं जो इस कृति को उन्होंने प्रकाशनार्थ चुना।

## आचार्य सम्राट् पूज्य श्री आत्मारामजी महाराज : एक अंशुमाली

- हीरालाल जैन

पूर्व दिशा में सूर्य का उदय नहीं होता है। जहाँ सूर्य का उदय होता है, उस दिशा को पूर्व दिशा कहा जाता है। आचार्य आत्मारामजी म. सा. भी एक ऐसे ही अंशुमाली हैं, सूर्य हैं। इस भास्कर की भव्य किरणें आज तक समस्त भूमण्डल को भास्वरित, आलोकित व प्रकाशित करती रही हैं। कहा भी है--

दूर सहस्र किरण कुरुते प्रभैव,  
पद्माकरेषु जलजानि विकासभाजिज्।

सूर्य चाहे दूर हो परन्तु उसकी किरणें ही इस धरती को प्रकाशित और सरोवर के कमलों को विकसित कर सकती हैं। श्रमण संघ के अपूर्व सूर्य आत्मारामजी महाराज की जीवन किरणों से संघ सरोवर के अनेक कमल आज भी विकसित हो रहे हैं। सूर्य की सभी किरणें कभी पकड़ी नहीं जाती फिर भी विशेष प्रयोग से कुछ किरणों को पकड़कर अनेकानेक कार्य हो सकते हैं। वैसे ही आचार्यश्री का जीवन भी अनेक किरणों से मण्डित है, पर इसमें कुछ किरणों को एकत्रित करके संघ सुशोभित हो सकता है।

### जन्म

जिनका सम्पूर्ण जीवन जन्म और मृत्यु से परे होने की साधना में समाहित रहा, उस महापुरुष के जन्म का सौभाग्य पंजाब की पावन धरती को मिला। महापुरुष तीर्थों में ही जन्म लेने यह जरूरी नहीं, पर महापुरुषों का जहाँ जन्म होता है। वह भूमि तीर्थ बन जाती है। भूले-भटके अनेकों को राह दिखाने वाले राहबर का जन्म जालन्धर के "राहो" नामक कस्बे में हुआ है। भद्रपरिणामी उन भव्य पुरुष की भद्रिकमाता ने भाद्रपद का महीना दृढ़ और सं. 1939 के भाद्रशुक्ल पक्ष में जन्म दिया। आत्मा के राम को जन्म देने के लिए मन से राम बनना और परमात्मा के रूप को आकार देने के लिए स्वयं ईश्वर स्वरूप रहना जैसे जरूरी है, वैसे पिता मनसाराम और माता परमेश्वरी देवी ने उन्हें जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त किया।

दो वर्ष की अवस्था में आपकी माता आपका ध्यान परमेश्वरत्व की ओर अग्रसर करके स्वयं परमेश्वर को प्यारी हो गयीं और आठ वर्ष की अवस्था में आपके पिताश्री आपको असीम मनोबल प्रदान कर स्वर्ग सिंघार गये। कुछ दिन आप अपनी वृद्ध दादीजी के पास रहे, पर वह भी शीघ्र ही परलोक सिंघार गयीं। माता, पिता और दादी की मृत्यु ने आपको संसार की नश्वरता का आभास दिला दिया। कुछ समय अन्य स्वजनों के साथ बिताने से आपको संसार की स्वार्थीवृत्ति का अनुभव हुआ।

पूर्वजन्मार्जित पुण्य की प्रेरणा से आप अपने जीवन की नई राहों को ढूँढ़ने के लिए लुधियाना आ गये। यहाँ पर संतचरणानुयोगी श्री सोहनलालजी एडवोकेट की प्रेरणा से आप परम पूज्य आचार्य श्री मोतीरामजी म. के पावन सान्निध्य में आ पहुँचे। अब आपका मस्तक संत चरणों पर था और संत हस्त आपके मस्तक पर। आत्मारामजी की श्रद्धाभक्ति से समन्वित ऊर्जा का प्रवाह मस्तक के द्वारा संत चरणों में मिल गया। संयम, ज्ञान, दर्शन, चरित्र तथा तप के तेज से उद्भवित पूज्य गुरुदेव श्री की शांत, दान्त, और पावन ऊर्जा का प्रवाह हाथों के माध्यम से आपके मस्तिष्क में प्रवेश करता हुआ आत्माराम की आत्मा तक जा पहुँचा। इस प्रकार ऊर्जा का ऐसा चक्र बना जिसने प्रथम स्पर्श में ही आपके जीवन चक्र को ऐसी गति प्रदान की कि आपके अन्तर में ज्ञान का प्रकाश फैल गया। आपकी आत्मा ने गुरु चरणों में अपने आपको समर्पित करते हुए कहा-- "गुरुदेव, संतत्व सिन्धु की गहराइयों से प्राप्त ज्ञान-मुक्ताओं से मेरी झोली भी भरने की कृपा करें।"

गुरुदेव श्री ने कहा -- " आत्माराम तुम्हारी झोली मुक्ताओं के अनेकानेक रत्नों से भरी पड़ी है। गाँठ खोलो, गाँठ खोलते ही तुम्हें तुम्हारे रत्न प्राप्त हो जायेंगे।" "महाराज ! वह गाँठ बहुत उलझी है, उसे आपकी शक्ति, तपोबल और अहैतुकी कृपा ही सुलझा सकती है। जीवन को ग्रन्थी रहित निर्गन्थ बनाने के लिए साधना की जरूरत होती है।" "आत्माराम तुम्हारा आत्मबल ही इस गाँठ को सुलझा सकता है, हम तो केवल निमित्त बन सकते हैं। आत्माराम अपनी शक्ति को पहचानो, उठो, जागो, प्रबुद्ध बनो।" "जो आज्ञा गुरुदेव।" कहकर आत्माराम पूज्य गुरुदेव श्री मोतीरामजी म. के ही हो गए और पूज्य श्री मोतीरामजी ने उन्हें अपने सान्निध्य में रहने की आज्ञा दे दी।

**विरक्ति एवं भक्ति के साथ संयम की राहों पर**

शीघ्र ही आप विरक्ति की कठिन राहों पर चलते हुए संयम के महाद्वार पर आ पहुँचे। पूज्य श्री मोतीरामजी म० ने आपको पंच परमेष्ठी की आराधना के योग्य पाया। अतः उन्होंने गणावच्छेदक श्री गणपतिरामजी म०, बाबा श्री जयरामदासजी म० एवं पूज्य श्री शालिग्रामजी महाराज के परामर्श से आपके लिए संतत्त्व मंदिर के द्वार खोलने का निश्चय किया। आत्मारामजी की आत्मा आनन्दोल्लास से झूम उठी। पटियाला के पास "छत बनूड़" कस्बे में हजारों श्रावक-श्राविकाओं की उपस्थिति में पूज्य श्री मोतीराम जी म० ने संतत्त्व मंदिर में आत्मारामजी को प्रवेशार्थ अधिकार दे दिया और 1951 में आषाढ़ शुक्ला पंचमी के दिन दीक्षा हो गयी। अब आप मननशील मनस्वी मुनि बनकर अपने दीक्षा-गुरु श्री शालिग्रामजी म० की शरण में संयम-साधना में तल्लीन रहने लगे। आप छोटी सी आयु में ही तेजस्वी बन गए। आपकी अपूर्व प्रतिभा-शक्ति संसार को चमत्कृत करने लगी। आप उसका प्रत्यक्ष उदाहरण थे।

**अग्नि परीक्षा**

अग्नि के अनेकों रूपों में से "कामाग्नि" अनियन्त्रित होकर सभी प्राणियों के

यौवनकाल में अचानक ही भड़क उठती है। उस पर नियन्त्रण वही महापुरुष कर सकता है जिसका "ब्रह्मचर्य नवबाडों के नीचे मोर्चे बनाकर उसकी सदैव रक्षा करता है। कहा गया है "ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाध्नत", यानि कि ब्रह्मचर्य और तप महापुरुष को मृत्यु को भी मार देने वाला बना देते हैं। आपके ब्रह्मचर्य ने कामदेव को सदा परास्त किया।

एक बार आप लगभग 25 वर्ष की अवस्था में विहार करते हुए रोपड़ पधारे। आपके प्रवचनों ने जन-जन को कृतार्थ कर दिया। प्रवचन सभा में एक पादरी ने प्रवचन व आपके शारीरिक सौंदर्य पर मुग्ध होकर अपनी सात कन्याओं में से किसी एक को अपना लेने का प्रस्ताव रखा और कहा कि आपकी गृहस्थी का शेष भार मैं संभाल लूँगा। आचार्यदेव पादरी की पापमयी वाणी सुनकर मुस्कुराकर कहने लगे कि आपकी कन्याएँ तो मेरी छोटी-छोटी बहनें हैं उनके विषय में धर्मापदेशक होकर आपको ऐसा सोचना भी शोभा नहीं देता। पादरी ने लज्जित होकर क्षमा माँगते हुए कहा - महाराज मैं तो आपकी परीक्षा ले रहा था। आचार्यश्री के ब्रह्मचर्य ने उसकी पाप भावना को मारकर उसे क्षमा कर दिया।

### डायर की क्रूरता की पराजय

अमृतसर के जलियाँ वाले बाग में अपना भय व आतंक फैलाने वाला सूनी दरिन्दा जनरल डायर जब उस जैन स्थानक के करीब पहुँचा जिसमें आप पूज्य श्री सोहनलाल जी म. के दर्शनार्थ पधारे हुए थे तो आपने बड़ी निर्भीकता से उसका सामना किया। वह अपने दस-बीस अंग्रेज सिपाहियों की फौज लेकर जैन स्थानक के नीचे पहुँचा और वहाँ पर बैठे नौकर को आदेश देता हुआ बोला कि जो लोग ऊपर मंजिल पर हैं, उन्हें नीचे आने को कहो। नौकर ने पूज्य श्री सोहनलालजी म. की सेवा में जाकर डायर की बात कही तो पूज्य महाराजश्री ने आत्मारामजी म. की तरफ देखा। तब आप बोले "आचार्यदेव ! सूर्य अंधकार के पास कैसे जा सकता है। न आपको नीचे जाना पड़ेगा और न ही कोई ऊपर आएगा।" यह कहकर आप अपने ध्यान में बैठ गए और वह अंग्रेज आफिसर अपना सा मुँह लेकर चला गया। आचार्यश्री के रोम-रोम से आपके लिए शुभ आशीर्वाद बरसने लगे। सभी साधुजन आपके साहस एवं आत्मबल के आगे नत-मस्तक हो गए।

### अमृत पुरुष का स्पर्श पाते ही विष भी अमृत हो जाता है

एक दूसरी घटना सं० 1960 में आपका चातुर्मास गणावच्छेदक श्री गणपतरायजी महाराज, श्री जयरामदासजी म० एवं पूज्य श्री शालिग्रामजी म० के साथ स्यालकोट में था। उस समय स्यालकोट में प्लेग फैला हुआ था जिसका कुप्रभाव आत्मारामजी म० पर भी पड़ा। डॉ० अल्लाखाँ ने आपकी बीमारी को ला-इलाज जानकर आपको संखिया नामक विष दे दिया लेकिन प्रभु की लीला देखो आपके पावन शरीर का स्पर्श पाते ही वह विष भी अमृत बन गया। दो-चार उल्टियाँ आने पर शारीरिक विकार ठीक हो गए और विष का प्रभाव भी समाप्त हो गया। तत्पश्चात् आपने डॉ० अल्लाखाँ को क्षमा करते हुए रावलपिंडी की ओर प्रस्थान किया।

### ज्येष्ठ शिष्य रत्न

नौ वर्ष में ही आपकी निष्ठा, संयमता व योग-प्रबलता की चर्चा दूर-दूर तक फैल गयी। राक्लपिंडी में आपके प्रवचनों से प्रभावित होकर ओसवालवंशी सर्वश्री ज्ञानचन्द्रजी आपके शिष्य बन गये। आप जहाँ पर भी जाते जनता आपकी कर्तव्य-परायणता, ब्रह्मचर्य, तेजस्विता व निर्भक्ता से प्रभावित होकर मुग्ध हो जाती थी।

### उपाध्याय पद

इतिहास इस बात का साक्षी है कि पूज्य श्री आत्मारामजी १० से पूर्व किसी मुनिराज को उपाध्याय के पद से विभूषित नहीं किया गया। तीस वर्ष की अल्पायु में ही संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं, जैन आगमों व दर्शनशास्त्र में आपकी गहरी पैठ को देखते हुए सं० 1968 में पूज्य श्री सोहनलालजी १० ने अमृतसर नगर की एक संगोष्ठी में आपको उपाध्याय पद से सुशोभित किया।

### जैनधर्म दिवाकर

सं० 1990 में अजमेर में हुए धार्मिक सम्मेलन में आपकी शास्त्र-मर्मज्ञता से प्रभावित होकर आपको आगम-ज्ञाता के पद से सुशोभित किया गया। उसके बाद आपका चातुर्मास दिल्ली के महावीर भवन में हुआ। वहाँ पर आपने दस दिनों की अल्पावधि में ही तत्त्वार्थसूत्र व जैनगमसमन्वय की रचनाकर सभी को आश्चर्यचकित कर दिया। आपकी प्रज्ञता से प्रभावित होकर आपको जैनधर्म-दिवाकर पद प्रदान किया गया।

### साहित्य रत्न

सं० 1993 में जब युग-पुरुष श्री लालचन्द्रजी महाराज की स्वर्णजयन्ती मनाई गयी तो संस्कृत, प्राकृत, पाली आदि भाषाओं पर आपके अधिकार को देखते हुए पंजाब के समस्त श्रीसंघों ने आपको साहित्य-रत्न की उपाधि से सम्मानित किया।

### आचार्य पद

पंजाब के निवासियों ने परम तेजस्वी आचार्यश्री सोहनलाल जी १० एवं पूज्य श्री काशीरामजी १० के आचार्य पद की गरिमा को देखा हुआ था। पूज्य श्री काशीरामजी १० के देवलोकगमन के पश्चात् जब सभी ने सर्वत्र दृष्टि डाली तो उनकी दृष्टि आपश्री पर जाकर टिकी। अतः श्री उदयचन्द्रजी १० की देखरेख में सं० 2003 के चैत्रमास की शुक्लत्रयोदशी के दिन महावीर जयन्ती के महोत्सव पर सर्वसम्मति से आचार्य पद का प्रतीक चादर आपको ओढ़ाते हुए "नमो आयरियाण" के शब्दों से आपका अभिनन्दन किया।

### श्रमण संघीय आचार्य पद

सं० 2009 में राजस्थान के सादड़ी नगर में आयोजित एक सम्मेलन में आपको श्रमणसंघीय आचार्य पद से अलंकृत किया गया। संघ के हित के लिए आप सदा निह्र होकर कार्य करते रहे। यम (व्रत) की साधना तो कोई भी कर सकता है लेकिन संयम की साधना

आपके जैसा कोई योगी पुरुष ही कर सकता है। ज्ञान, संयम, विनम्रता आपके जीवन की सबसे बड़ी विशेषता रही है।

### बाहर अंधेरा अन्तर में प्रकाश

आप जीवन में सदैव स्वाध्याय और तप को ही अधिक महत्त्व देते थे। आपकी बाह्य ज्योति मोतियाबिन्द के पीछे छिप गई किन्तु आपका स्वाध्याय आत्मज्योति के प्रकाश में चलता रहा। समुद्र की लहरों के साथ अनेक मोती बिना माँगे तट पर आकर बिखर जाते हैं लेकिन समुद्र कोई लेखा-जोखा नहीं करता, इसी तरह आप ( तपरूपी सागर ) से आशीर्वादों के मोती बिखरते रहते थे।

### सहिष्णुता की पराकाष्ठा

आचार्यश्री जी ध्यान योगी थे और जड़ शरीर से चेतना को असम्पृक्त कर आत्मकेन्द्र में स्थिर कर देते थे। उसके पश्चात् शरीर में किसी भी प्रकार की अनुभूति नहीं होती थी। सन् 1953 में लुधियाना में सोलह फुट की ऊँचाई से गिरकर आपके कूल्हे की हड्डी टूट गई। अस्पताल ले जाने पर डाक्टरों ने बिना बेहोश किए तीन घण्टे तक आपका आपरेशन किया और सोलह इंच लम्बी रॉड आपकी जांघ में डाली लेकिन धैर्य और संयम के इस योगी ने आह तक न की और चार घण्टे बाद स्वयं ही यह पूछा कि आपरेशन हो गया। डॉक्टर ने जीवन में पहली बार ऐसी घटना देखी थी और वह कहे बिना न रह सका कि "ईसा के जीवन की शान्ति की कहानियाँ पढ़ा करते थे पर शान्ति व धैर्यशीलता की साक्षात् मूर्ति के दर्शन मैंने आज ही किए हैं।" आपने ध्यान-योग की शक्ति से डॉक्टर के बेटे की दुर्घटना का यथार्थ विवरण दे दिया था और सभी बातें सत्य प्रमाणित हुईं। एक अन्य विवरण के अनुसार श्री कैलाशचन्द्र जी ने इंग्लैण्ड में एक श्रावक के पुत्र के विषय में पूछा तो आपने ध्यानस्थ होकर जो बातें बतलाई वह भी यथातथ्य सत्य निकलीं। इस घटना से प्रभावित होकर वह आपके श्रीचरणों में नतमस्तक हो गया, यही था आपका ध्यान योग।

### प्लेग सतलुज के तट से ही लौट गई

आपका जीवन तप, त्याग और साधना की त्रिवेणी था। आपको सिद्धियाँ नहीं करनी पड़ती थीं अपितु सिद्धियाँ स्वयं ही आपकी सेवा में उपस्थित रहती थीं। एक बार श्रावकों द्वारा प्लेग की सूचना मिलने पर आपने उन्हें यह आश्वासन दिया कि चिन्ता मत करो यह बीमारी सतलुज की लहरों को पार नहीं कर पाएगी और वास्तव में वैसा ही हुआ।

### आजादी की भविष्यवाणी

वर्ष 1935 में नेहरूजी रावलपिण्डी में आपकी पावन गाथाएँ सुनकर आपके दर्शनार्थ आए और आप से आजादी के लिए मार्गदर्शन माँगा। आपने उन्हें अहिंसा, सद्भावना, सद्व्यवहार, लक्ष्य-प्राप्ति के लिए दृढ़ता व धार्मिक श्रद्धा ये पाँच सद्गुण अपनाने के लिए कहे, जिन्हें पंडितजी पंचशील कहा करते थे। आपने ध्यानस्थ होकर यह भी भविष्यवाणी की थी कि 10/12 वर्ष के प्रयत्न से आजादी स्वयं ही आपके पास चली आएगी। आपकी भविष्यवाणी के



अनुसार ठीक बारह वर्ष पश्चात् वर्ष 1947 में भारत स्वतन्त्र हो गया ।

### साहित्य साधना

ज्ञान की गरिमा व बुद्धि की प्रखरता ने आपको साहित्य सृजन की ओर प्रेरित किया । आपने संस्कृत भाषा से दूर रहने की मान्यता को छोड़कर प्रत्येक आगम को संस्कृत की छाया देकर उसे साम्प्रदायिकता से विमुक्त किया । कई आगमों का हिन्दी अनुवाद कर उन्हें सर्वजन सुलभ बना दिया । आपके व्याख्यानों में ज्ञान की गंभीरता, अनुभव की सहजता व भाव-प्रेषण की कुशलता का सम्मिश्रण मिलता है । जैन तत्त्व को सहज भाषा में लिखकर उसे सामान्यजन तक पहुँचाने हेतु आपने साठ के करीब पुस्तकें लिखीं ।

आपकी स्मृति बड़ी प्रबल थी । यह आपकी ब्रह्मचर्य तपस्या का ही प्रतिफल था कि आपने संस्कृत के एक हजार श्लोक के ग्रन्थ को लगभग चौबीस घण्टों में ही कण्ठस्थ कर लिया था ।

### तत्त्वार्थसूत्र व जैनागम समन्वय

आचार्यश्री जी ने सं० 1989 में दिल्ली में केवल दस दिनों में दिगम्बर मान्य तत्त्वार्थसूत्र का बत्तीस आगमों के पाठ से समन्वय कर यह सिद्ध कर दिया था कि उमास्वाति जी के तत्त्वार्थसूत्र का जैन साहित्य में वही स्थान है जो बत्तीस जैनागमों का है । आपका पूरा जीवन श्रुतज्ञान के लिए समर्पित रहा है । उपाध्याय श्रमण श्री फूलचन्द जी म. एवं उनके शिष्य रत्नमुनि जी म. ने उनके अप्रकाशित ग्रन्थों को प्रकाशित करवाने का कार्य किया है । उनके शिष्य पं. हेमचन्द्रजी ने "सूत्रकृतांगसूत्र" की व्याख्या लिखी थी जिसे उनके शिष्य श्री पद्मचन्द्र जी म. ने अन्तकृदशांगसूत्र व श्री अमरमुनिजी म. ने प्रश्नव्याकरणसूत्र और भगवतीसूत्रों का सम्पादन करने का कार्य किया है । आचार्य श्री द्वारा लिखित निरयावलिकासूत्र का सम्पादन व प्रकाशन करने का प्रयास महासती श्री स्वर्णकान्ता जी म. कर रही हैं ।

### आचार्यश्री जी की शिष्य-परम्परा

आचार्यश्री जी की शिष्य-परम्परा के वर्तमान रत्न श्री ज्ञानमुनिजी म०, श्री रत्नमुनिजी म० एवं उपाध्याय श्री मनोहरमुनिजी म० अगाध श्रद्धा एवं निष्ठा के साथ आचार्यश्री के अपूर्ण कार्यों को पूरा करने का प्रयास कर रहे हैं ।

उपाध्याय श्रमण श्री फूलचन्द जी म० आपके ज्येष्ठ शिष्य रत्न श्री खजान चंद जी म० के शिष्य थे । प्रवर्तक भंडारी श्री पद्मचन्द्र जी म० आचार्य देव के शिष्य श्री पं० वैयाकरण हेमचन्द्र जी म० के शिष्य हैं, जिनके शिष्य श्री अमरमुनि जी म० प्रवचन प्रभावी संत हैं ।

### देवलोकगमन

सन् 1961 में लगभग तीन मास तक कैंसर ने आपके शरीर को घेरे रखा । आचार्यश्री के शब्दों में "मुझे कर्म रोग से मुक्त करता रहा ।" कैंसर की दुस्साध्य वेदना में भी आप सदैव शान्त रहते थे । आपने अपनी नित्य क्रियाओं में कभी भी व्यवधान नहीं आने दिया ।

सन् 1962 आरम्भ हो चुका था। आस-पास विचरने वाले 104 साधु व लगभग 40 साधिव्याँ आपके दर्शनों के लिए लुधियाना पहुँच चुके थे। 30-01-62 को प्रातःकाल दस बजे आपने अपच्छिन्न मरणान्तिक संलेखना करके अनशन धारण कर चतुर्विध आहार का त्याग कर दिया और अन्तर्ध्यान में लीन हो गये। 31 जनवरी को रात्रि के दो बजकर बीस मिनट पर माघ कृष्ण नवमी के दिन आप अपने पौद्गलिक शरीर को त्यागकर उच्च देवलोक की ओर प्रस्थान कर गए। आज आप शारीरिक दृष्टि से हमारे बीच नहीं हैं लेकिन आपकी दिव्य रचनाएँ, प्रभावी, साहसी एवं विनम्र व्यक्तित्व एवं रत्नत्रय की साधना आज भी आपको जीवित बनाए हुए है।

आने वाला युग भी आपकी कृतियों का गुणगान करेगा। यही भाव उनके चरणों में अर्पित करते हैं। अन्त में शासन देव के चरणों में यह प्रार्थना करते हैं कि यह आत्म दीक्षा शताब्दी वर्ष भारत की अखण्डता का प्रतीक बने, विश्व मैत्री व शांति के लिए वरदान साबित हो एवं प्राणिमात्र के कल्याण के लिए हर जन के मन में भाव उठे।

जय महावीर !

**संस्थापक : आचार्य सम्राट् श्री आत्मारामजी म० जैन मेमोरियल ट्रस्ट**

# जैनमहापुराण : एक कलापरक अध्ययन

( शोध प्रबन्ध का सार संक्षेप )

डॉ० कुमुदगिरि

पुराणों की रचना ब्राह्मण एवं जैन दोनों ही धर्मों में प्रचुर संख्या में की गई। ये पुराण वस्तुतः भारतीय संस्कृति के विश्वकोश हैं, जिनमें विभिन्न कथाओं के माध्यम से धार्मिक जीवन के विविध पक्षों के साथ ही सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और कलापरक विषयों की विस्तारपूर्वक चर्चा मिलती है। श्वेताम्बर परम्परा में ऐसे ग्रन्थों को चरित या चरित्र तथा दिगम्बर परम्परा में पुराण कहा गया है। लगभग पाँचवीं शती ई० से दसवीं शती ई० के मध्य विभिन्न प्रारम्भिक जैन पुराणों की रचना की गई जिनमें प्राकृत पउमचरिय ( विमलसूरिकृत 473 ई० ), पद्मभूषण रविषेणकृत ( 678 ई० ), हरिवंशपुराण ( जिनसेनकृत 783 ई० ), संस्कृत महापुराण ( जिनसेन एवं गुणभद्रकृत 9वीं-10वीं शती ई० ) तथा अपभ्रंश महापुराण ( पुष्पदन्तकृत-लगभग 690 ई० ) विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

जैन पुराणों में महापुराण सर्वाधिक लोकप्रिय था, जो आदिपुराण और उत्तरपुराण इन दो विमानों में विभक्त है। आदि पुराण की रचना जिनसेन ने लगभग 9वीं शती ई० के मध्य और उत्तरपुराण की रचना उनके शिष्य गुणभद्र ने 9वीं शती ई० के अन्त या 10वीं शती ई० के प्रारम्भ में की। महापुराण में जैन देवकुल के 24 तीर्थकरों तथा 12 चक्रवर्ती, 9 बलभद्र, 9 नारायण और 9 प्रति नारायण सहित कुल तिरसठ शलाकापुरुषों ( श्रेष्ठजनों ) के जीवन चरित का विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है।

विद्वानों द्वारा किसी विशेष जैन पुराण या पुराणों के आधार पर सांस्कृतिक अध्ययन से सम्बन्धित कई महत्वपूर्ण कार्य किये गये हैं किन्तु अभी तक किसी चरित या पुराण साहित्य के आधार पर कलापरक अध्ययन का कोई समुचित प्रयास नहीं किया गया है। जैन ग्रन्थों में सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न आयामों का साहित्यिक पृष्ठभूमि की दृष्टि से विशेष महत्व है। ज्ञातव्य है कि महापुराण एवं एलोरा की जैन गुफायें समकालीन ( 9वीं - 10वीं शती ई० ) और दिगम्बर परम्परा से सम्बद्ध हैं, जिससे महापुराण की कलापरक सामग्री के एलोरा की जैन गुफाओं की मूर्तियों से तुलना का महत्व और भी बढ़ जाता है। एलोरा की मूर्तियों में बाहुबली की कठिन साधना के प्रसंग में उनके शरीर से माघवी का लिपटना एवं सर्प, वृश्चिक, छिपकली तथा मृग जैसे जीव जन्तुओं का शरीर पर या समीप विचरण करते हुए और

पाशर्वनाथ की मूर्तियों में शंबर ( कमठ या मेघमाली ) के विस्तृत उपसर्गों के अंकन स्पष्टतः महापुराण के उल्लेखों से निर्दिष्ट रहे हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में ऐतिहासिक दृष्टि से कालक्रम की मर्यादा का ध्यान रखते हुए महापुराण की कलापरक सामग्री का एकशः विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है और आवश्यकतानुसार उस सामग्री की श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा के अन्य जैन ग्रन्थों तथा विभिन्न पुरास्थलों, विशेषतः एलोरा की मूर्त सामग्री से तुलना भी की गई है, जिससे महापुराण की कलापरक सामग्री का स्वरूप एवं व्यावहारिक महत्व दोनों स्पष्ट हो सके।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध 9 अध्यायों में विभक्त है। प्रस्तावना विषयक प्रथम अध्याय में पूर्व कार्यों की विवेचना एवं अध्ययन के साथ ही महापुराण की विषय- सामग्री तथा उसके रचनाकार जिनसेन एवं गुणभद्र के जीवन परिचय, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और समय पर विचार किया गया है।

दूसरे अध्याय में जैन देवकुल का अध्ययन हुआ है जिसमें मुख्यतः 8वीं शती से 12 वीं शती ई० के मध्य जैन देवकुल में सम्मिलित 63 शलाकापुरुषों एवं अन्य देवों के नामों एवं उनके लाक्षणिक स्वरूपों का उल्लेख हुआ है। प्रस्तुत अध्ययन द्वारा महापुराण में जैन देवकुल के विकास की पृष्ठभूमि को अधिक स्पष्टतः समझा जा सकता है।

पूर्णाविकसित जैन देवकुल में 63 शलाकापुरुषों के अतिरिक्त 24 तीर्थकरों के यक्ष-यक्षी युगलों, विद्याधर, अष्टदिकपाल, नवग्रह, लक्ष्मी, सरस्वती, नैगमेष, इन्द्र, ब्रह्मशान्ति एवं कर्पदी यक्ष और गणेश जैसे देवी- देवता सम्मिलित थे। लगभग 12 वीं शती ई० तक जैन देवकुल के देवताओं के विस्तृत लक्षण भी नियत किये जा चुके थे और तदनुरूप देवगढ़, खजुराहो, मथुरा, बिलहरी, खण्डगिरि, उड़ीसा, राजगिर, एलोरा, हुम्या, हलेबिड, असिकेरी, श्रवणबेलगोल जैसे दिगम्बर एवं ओसियाँ, दिलवाड़ा, कुम्भारिया, तारंगा जैसे श्वेताम्बर स्थलों पर विभिन्न देव स्वरूपों का निरूपण हुआ। साहित्य और शिल्प के आधार पर 24 तीर्थकरों के बाद यक्षी, विद्यादेवी, लक्ष्मी, सरस्वती आदि के रूप में देवियों को ही सर्वाधिक प्रतिष्ठा दी गयी, जो शक्ति और तांत्रिक पूजन से प्रभावित प्रतीत होता है।

तीसरे से छठे अध्यायों में जैन महापुराण के आधार पर 24 तीर्थकरों एवं अन्य शलाकापुरुषों, यक्ष-यक्षी और विद्यादेवी तथा अन्य देवी-देवताओं का उल्लेख किया गया है और एलोरा तथा आवश्यकतानुसार खजुराहो, देवगढ़, दिलवाड़ा, कुम्भारियाँ एवं कुछ अन्य स्थलों की मूर्तियों से उनकी तुलना भी की गयी है।

तीर्थकरों से सम्बन्धित तीसरे अध्याय में क्रम से 24 तीर्थकरों का उल्लेख हुआ है। 24 तीर्थकरों में ऋषभनाथ को सर्वाधिक महत्व दिया गया है, जिनके बाद पाशर्वनाथ और तत्पश्चात् नेमिनाथ और महावीर का विस्तारपूर्वक उल्लेख हुआ है। अन्य तीर्थकरों की चर्चा संक्षेप में की गयी है। तीर्थकरों के सन्दर्भ में मुख्यतः पंचकल्याणकों ( च्यवन, जन्म, दीक्षा, कैवल्य और निर्वाण ) एवं ऋषभनाथ, पाशर्वनाथ, नेमिनाथ और महावीर के सन्दर्भ में उनके

जीवन की कुछ विशिष्ट घटनाओं का भी विस्तारपूर्वक उल्लेख हुआ है। ऋषभनाथ के प्रसंग में भरत और बाहुबली के युद्ध, बाहुबली की कठिन साधना और कालान्तर में भरत चक्रवर्ती के भी संसार त्यागने, नेमिनाथ के सन्दर्भ में कृष्ण की आयुधशाला में नेमि के शौर्य-प्रदर्शन तथा पिजड़े में बन्द विभिन्न पशुओं की भोजन के लिये आसन्न हिंसा के फलस्वरूप अविवाहित रूप में संसार त्यागने एवं पार्श्वनाथ की तपस्या के समय पूर्वजन्म के वैरी कमठ ( शंबर ) द्वारा उपस्थित उपसर्गों और महावीर की तपश्चर्या के समय संगमदेव, शूलपाणि यक्ष आदि के उपसर्गों से सम्बन्धित उल्लेख कलापरक अध्ययन की दृष्टि से विशेषतः महत्त्वपूर्ण हैं।

पाँचवाँ अध्याय यक्ष- यक्षी एवं विद्यादेवी से सम्बन्धित है। यह सर्वथा आश्चर्यजनक है कि महापुराण में यक्ष-यक्षी का कोई उल्लेख नहीं हुआ है। केवल महापुराण ही नहीं वरन् दिगम्बर परम्परा के अन्य पुराणों में भी यक्ष यक्षी का अनुल्लेख ध्यातव्य है। दूसरी ओर श्वेताम्बर परम्परा के 63 शलाकापुरुषों से सम्बन्धित चरित्र ग्रन्थों में यक्ष-यक्षी युगलों के प्रतिमा-निरूपण से सम्बन्धित विवरण मिलते हैं, जिसमें हेमचन्द्र त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र सर्वप्रमुख है।

पउमचरिय एवं हरिवंशपुराण जैसे पूर्ववर्ती ग्रन्थों के समान ही उत्तर पुराण में भी विद्यादेवियों के अनेक उल्लेख मिलते हैं। उत्तरपुराण में कई अलग-अलग प्रसंगों में लगभग 50 विद्यादेवियों का नामोल्लेख हुआ है। जिनमें अधिकांश राम, लक्ष्मण, रावण, सुग्रीव और हनुमान द्वारा सिद्ध या प्राप्त हैं। लगभग दसवीं शती ई० ( संहितानुसार एवं शोभनस्तुति ) में अनेक विद्याओं में से 16 प्रमुख महाविद्याओं को लेकर एक सूची नियत हुई, जिसमें उत्तरपुराण में उल्लिखित रोहिणी, गरुडवाहिनी ( अप्रतिचक्रा ), सिंहवाहिनी ( महामानसी ), महाज्वाला, गौरी, मनोवेगा जैसी महाविद्याओं को सम्मिलित किया गया। दिगम्बर स्थलों पर खजुराहो के आदिनाथ जैन मंदिर के एकमात्र अपवाद के अतिरिक्त महाविद्याओं की मूर्तियाँ नहीं बनीं, जबकि गुजरात व राजस्थान के श्वेताम्बर स्थलों पर इन महाविद्याओं का अंकन सर्वाधिक लोकप्रिय विषय था।

महापुराण में नारद, कामदेव, वामन, लक्ष्मी, सरस्वती, इक्ष्वाकुमारियों एवं नागदेवों के भी उल्लेख मिलते हैं। एलोरा की जैन गुफाओं में लक्ष्मी और पार्श्वनाथ की मूर्तियों में नागराज धरणेन्द्र के शिल्पांकन के अतिरिक्त इक्षुधनु और पुष्पशर से युक्त कामदेव की एक मूर्ति मिली है।

सातवें अध्याय में महापुराण में वर्णित स्थापत्यगत सामग्री का संक्षेप में उल्लेख किया गया है, जिसके अन्तर्गत जिनमन्दिरों, समवसरण, राजप्रासाद एवं सामान्य भवनों की चर्चा की गयी है।

आठवें अध्याय में महापुराण में वर्णित सांस्कृतिक जीवन के विविध पक्षों से सम्बन्धित सामग्री का सांगोपांग विवेचन किया गया है। सांस्कृतिक जीवन के विविध पक्षों, यथा -- शृंगार, नृत्य, गायन-वादन, वस्त्र एवं दैनिक उपयोग की सामग्रियों का विस्तृत उल्लेख

भौतिक जीवन के प्रति उनके सार्थक अनुराग और ज्ञान दोनों को प्रकट करता है। उत्तरपुराण में कुलवती नारियों द्वारा अलंकरण धारण करने का उल्लेख है, जबकि विधवा स्त्रियाँ इनका परित्याग कर देती थीं। आभूषणों से सज्जित होने के लिए "अलंकरणप्रह" एवं "श्रीगृह" का उल्लेख आया है। पूर्ववर्ती ग्रन्थ तिलोयपण्णति की भाँति महापुराण में भी भोगभूमि काल में भूषणांग तथा मालांग जाति के ऐसे वृक्ष का उल्लेख हुआ है जो क्रमशः नूपुर, बाजूबन्ध, रुचिक, अंगद, मेखला, हार व मुकुट तथा विविध ऋतुओं के पुष्पों से बनी मालाएँ एवं कर्णफूल आदि प्रदान करते थे। आदिपुराण की यह अवधारणा स्पष्टतः भारतीय परम्परा की पूर्ववर्ती कल्पवृक्ष की परिकल्पना तथा शुंग कुषाणकालीन (सांची, मथुरा) ऐसे कल्पवृक्षों के शिल्पांकन से प्रभावित है जिनमें विविध प्रकार के आभूषणों और वस्त्रों को कल्पवृक्ष से लटकते हुए दिखाया गया है। महापुराण में शिरोभूषण, कर्णभूषण, कण्ठाभूषण, हार, कराभूषण, कटि-आभूषण, पादाभूषण, प्रसाधन एवं केश-सज्जा आदि के विविध प्रकारों का उल्लेख मिलता है।

जैनमहापुराण में नृत्य के विभिन्न प्रकार एवं स्वरूपों का जो उल्लेख मिलता है वह विभिन्न अप्सराओं ( नीलांजना ) एवं इन्द्र द्वारा किये गये थे। जैनपुराणों में शिव के स्थान पर इन्द्र द्वारा नृत्यों का किया जाना ध्यातव्य है। साथ ही कई नृत्य लोक शैली के भी प्रतीत होते हैं।

रीडर, कला इतिहास विभाग  
कला संकाय, का० हि० वि० वि०  
वाराणसी

## पुस्तक-समीक्षा

**पुस्तक** - समता-ध्यान-साधना एवं अभिप्राय

**लेखक** - श्री विजय जनक चन्द्र सूरि

**प्रकाशक** - विजयसमुद्रसूरि स्मृति प्रकाशनमाला, रानी पाली, राजस्थान ।

**संस्करण** - प्रथम ( १९९३ )

**मूल्य** - ध्यानाभ्यास

जैन श्रमण, श्रमणियों की दिनचर्या में आवश्यक क्रियाओं के साथ-साथ स्वाध्याय और ध्यान-साधना की प्रमुखता रही है। किन्तु धीरे-धीरे ध्यान-साधना और उसकी आम्नायें बताने वाले श्रमण घट रहे हैं।

इस पुस्तक के माध्यम से श्री विजय जनक चन्द्र सूरि जी ध्यान-साधना एवं उसके अभिप्राय आदि पर विस्तृत प्रकाश डाला है। यह पुस्तक ध्यान-साधना करने वाले साधकों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

पुस्तक उपयोगी है।

■

**पुस्तक** - अमीधारा

**लेखिका** - साध्वी अक्षय ज्ञी 'आखा'

**प्रकाशक** - के० ज्ञानचन्द जैन एण्ड कम्पनी, २३१ सदर बाजार दिल्ली ।

**संस्करण** - प्रथम ( १९९४ )

प्रस्तुत पुस्तक में लेखिका ने अपने जीवन के संस्मरणों को एकत्र कर प्रस्तुत किया है। इसमें तीन घट हैं, जिसमें से प्रथम घट लेखिका ने स्वयं तैयार किया है, जिसमें उन्होंने अपनी अनुभूतियों को चित्रित किया है। दूसरा घट अन्य शिष्याओं एवं भक्तगणों ने तैयार किया तथा तृतीय घट में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आपके सम्बन्ध में छपे समाचार आदि हैं।

इस पुस्तक का नाम 'अमीधारा' ( अमृतधारा ) अत्यन्त सुन्दर है। इसमें अमृत से भरे तीन घट ( कलश ) हैं जो नीरस, दुर्बल एवं उदास जीवनों में चैतन्य से भरे जीवन रस का संचार करेंगे।

कृति की भाषा सरल एवं सुबोध है। साज-सज्जा आकर्षक है। ग्रंथ पठनीय एवं संग्रहणीय है।

पुस्तक - जैनदृष्टि से विपश्यना

लेखक - आचार्य विजय जनक चन्द्र सूरि जी

प्रकाशक - श्री पालनपुर जैन, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ, पालनपुर ( गुजरात )

संस्करण - प्रथम ( १९९३ )

मूल्य - ४.०० रुपये

लेखक ने इस पुस्तक में विपश्यना के बारे में विस्तार से चर्चा की है। इसमें लेखक ने जैन दृष्टिकोण से विपश्यना का अभिप्राय, इस क्रिया द्वारा होने वाले अनुभवों को प्रस्तुत किया है।

जैन सिद्धान्तानुसार ध्यान की प्रक्रिया जो प्रायः लुप्त हो गई उसे विद्वान लेखक ने अपनी इस पुस्तक के माध्यम से पुनः अस्तित्व में लाने का प्रयत्न किया है।

पुस्तक ध्यान साधना के साधकों के साथ ही सामान्य जन के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है।

■

पुस्तक - समाजभूषण सेठ श्री चम्पालालजी बाँठिया स्मृति ग्रंथ

सम्पादक - श्री उदय नागोरी

प्रकाशक - श्री जवाहर विद्यापीठ, बीकानेर ( राजस्थान )

पृष्ठ - २४४

मूल्य - १०१ रुपये

सेठ चम्पालालजी बाँठिया के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का संकलन इस ग्रंथ में बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है। पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक क्रियाकलापों का चित्रण चित्र-वीथी के माध्यम से हुआ है जो प्रस्तुत पुस्तक की विशेषता है। समाज के धार्मिक एवं सामाजिक विभूतियों के बारे में जानकारी चाहने वालों के लिए यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रंथ माना जा सकता है। मुद्रण एवं बाइण्डिंग कार्य काफी अच्छा है। प्रकाशक और संपादक इस पुस्तक के प्रकाशन के लिए बधाई के पात्र हैं।

■

पुस्तक - मेरा भाई

लेखिका - साध्वी अक्षय जी 'आखा'

प्रकाशक - जय नारायण जैन, जी-११८, पटेलनगर - ३, गाजियाबाद।

संस्करण - प्रथम ( १९९४ )

मूल्य - शुभ संकल्प

परम विदुषी साध्वी अक्षय जी 'आखा' जी द्वारा लिखित इस लघु उपन्यास में तीर्थंकर भगवान् महावीर के निर्वाण के समय उनके बड़े भाई राजा नन्दिवर्धन की मनःस्थिति को सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

यह एक आदर्शपरक उपन्यास है। यह उपन्यास समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर



करने एवं मानवीय गुणों के विकास में सहायक सिद्ध होगा, जिससे समाज का प्रत्येक वर्ग लाभान्वित होगा।

इस पुस्तक की भाषा सरल एवं स्पष्ट है। कृति पठनीय एवं संग्रहणीय है।

पुस्तक - दर्शन भारती ( शोध पत्रिका )

संपादक - डॉ० कमलाचन्द सोगाणी, डॉ० शीतलचंद जैन

प्रकाशक - श्री दिगम्बर जैन आचार्य ( स्नातकोत्तर ) संस्कृत महाविद्यालय,  
मनिहारों का रास्ता, जयपुर।

प्रकाशन वर्ष - १९९४

मूल्य - २५.०० रु०

श्री दिगम्बर जैन आचार्य संस्कृत महाविद्यालय द्वारा प्रकाशित शोध-पत्रिका दर्शन भारती के ईश्वर विशेषांक में अनेक विशिष्ट विद्वानों के ईश्वर सम्बन्धी लेख प्रकाशित किये गये हैं। इस पत्रिका में न केवल जैन विचारकों के ईश्वर सम्बन्धी लेखों का संकलन है अपितु अन्य परम्पराओं में ईश्वर सम्बन्धी विचार किस रूप में पाये जाते हैं इसका उल्लेख हुआ है। यह ग्रन्थ ईश्वर सम्बन्धी विचारणा के सभी पक्षों और सभी परम्पराओं का संग्राहक होने से शोधार्थियों के लिये उपयोगी एवं संग्रहणीय है।

पुस्तक - श्री प्रवचनसार विधान

लेखक - श्री राजमल पवैया

प्रकाशक - तारादेवी पवैया ग्रंथमाला, ४४, इब्राहिमपुरा, भोपाल।

संस्करण - प्रथम ( १९९४ )

मूल्य - १६.०० रुपये

आचार्य कुन्दकुन्द की अध्यात्म प्रधान कृतियों में प्रवचनसार भी एक महत्वपूर्ण कृति है। इस ग्रन्थ में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय स्वरूप की त्रिवेणी का अनुपम संगम है। इसकी अन्तिम चूँकि को जैनाचार का भी विवेचन है। इस प्रकार जैन साहित्य में इस ग्रन्थ की मूल्यवत्ता और उसका महत्व तो निर्विवाद है। श्री राजमलजी पवैया अध्यात्म दृष्टि प्रधान कवि हैं, उन्होंने हिन्दी पद्यों के माध्यम से कृति के हार्द को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इसे प्रवचनसार का प्रामाणिक, व्याख्यात्मक पद्यानुवाद कहा जा सकता है। निश्चय ही इसके माध्यम से जनसाधारण को, जो प्राकृत, संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओं से अनभिज्ञ हैं प्रवचनसार के मर्म को समझने में सरलता होगी। कुन्दकुन्द की गूढ़ वाणी को इतने सहज और सरल शब्दों में अभिव्यक्त कर देने की क्षमता पवैया जी की विशेषता है।

जैन विद्या के इन महान ग्रन्थों के स्वाध्याय को प्रेरणा मिले और जन साधारण इस ओर आकृष्ट हो ऐसे प्रयास करना हम सभी का कर्तव्य है और श्री पवैया इस दिशा में ग्रन्थों के सरल पद्यमय हिन्दी अनुवाद का जो भी प्रयास कर रहे हैं वे प्रशंसनीय है। किन्तु यह बात

मेरे गले नहीं उतर रही है कि ग्रन्थों के स्वाध्याय के पुनीत कार्य को वे विधान बनाकर कर्मकाण्ड में क्यों जकड़ देना चाहते हैं। क्योंकि आगे चलकर यह कर्मकाण्ड बनकर रह जायेगा और ग्रन्थ के स्वाध्याय की प्रवृत्ति एवं तत्त्व बोध की रुचि लुप्त हो जायेगी। पण्डित ये विधान करते रहेंगे। दूसरे यह कि यह सारा विधान हिन्दू परम्परा का अन्धानुकरण मात्र है और जैनतत्त्व ज्ञान का विरोधी भी है। यह अमृत में विष मिलाने के सदृश है, जिसके परिणाम भविष्य में कटु होंगे। इस स्पष्टोक्ति के लिए पवैया जी से क्षमा चाहूँगा।

पुस्तक - प्राकृत रचना सौरभ

लेखक - डॉ० कमलचन्द सोगाणी

प्रकाशक - अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जैन विद्या संस्थान, दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी, राजस्थान

प्रथम आवृत्ति - १९९४, आकार - डबल डिमाई

मूल्य - पुस्तकालय संस्करण : ७५.०० रु०, विद्यार्थी संस्करण : ५०.०० रु०

प्राचीन काल से ही प्राकृत भाषा का भारतीय आर्य भाषाओं में अपना एक विशिष्ट स्थान रहा है। इसका ज्ञान हमें इसके प्रकाशित और अप्रकाशित साहित्य द्वारा होता है। यह निर्विवाद सत्य है कि अपभ्रंश के अध्ययन एवं अध्यापन को सशक्त करने के लिए प्राकृत भाषा का अध्ययन एवं अध्यापन अत्यन्त आवश्यक है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर डॉ० कमलचन्द सोगाणी ने प्राकृत रचना सौरभ नामक पुस्तक को अपभ्रंश रचना सौरभ नामक पुस्तक की पद्धति पर लिखा है। किसी भी भाषा को सीखने या समझने के लिए उसकी रचना प्रक्रिया और उसके व्याकरण का ज्ञान होना परम आवश्यक है, इसलिए उन्होंने उक्त पुस्तक में व्याकरण के सभी पहलुओं को अत्यन्त सरलता से समझाया है। इससे जनसामान्य का उपकार तो होगा ही साथ ही उन सभी प्राकृत भाषा के जिज्ञासुओं का उपकार होगा जो प्राकृत भाषा के व्याकरण का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं।

पुस्तक - इतिहास के अधखुले पृष्ठ

लेखक - शरद कुमार साधक

प्रकाशक - जय जगत प्रकाशन, वाराणसी ।

संस्करण - प्रथम ( १९९४ ), आकार - डिमाई सोलह पेजी

मूल्य - ३०.०० रु०, रु० ४०.०० ( पुस्तकालय )

इतिहास अतीत की कहानी कहता है और भारतीय इतिहास का प्राचीन काल अनेक रहस्यों से भरा पड़ा है। यह एक कटु सत्य है कि हमारे इतिहास का अधिकांश भाग अनुमान पर आधारित है। इतिहास के उस अधकारमय अंश को जानने के लिए हम पौराणिक कथाओं और अनुश्रुतियों का सहारा लेते हैं। पुरातात्त्विक भग्नावशेषों, उत्खनित टीले आदि अपने अन्दर अतीत की ढेरों स्मृतियों को छिपाये पड़े हैं जो आज भी बन्द पन्ने की तरह किसी खोजी

की प्रतीक्षा में हैं।

इस पुस्तक के लेखक श्री शरद कुमार साधक जी ने अतीत के उन्हीं अधखुले पृष्ठों को जनसामान्य के सामने लाने का एक स्तुत्य प्रयास किया है। एक इतिहास लेखक के लिए तथ्यपरक दृष्टि और पूर्वाग्रहरहित होना आवश्यक होता है ताकि वह अतीत में घटी उन तमाम घटनाओं के वास्तविक स्वरूप को समझ सके। इतिहासकार क्रोसे के इस कथनानुसार कि, 'इतिहास केवल दार्शनिकों द्वारा लिखा जाना चाहिए', लेखक ने इतिहास को दर्शन के साँचे में ढालकर प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है।

इस पुस्तक में इतिहास के साथ साथ जैन संस्कृति का प्रचुरता से उल्लेख है जो जिज्ञासुओं और धर्म प्रेमियों के लिए महत्वपूर्ण है।

पुस्तक अनेक दृष्टियों से उपयोगी है।

■

**पुस्तक -** जैन आगम साहित्य : एक अनुशीलन

**लेखक -** आचार्य विजय जयन्तसेन सूरि

**प्रकाशक -** श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट/श्री राजेन्द्र सूरि जैन ज्ञान मन्दिर,  
रतनपोल, हाथीखाना, श्री राजेन्द्र सूरि चौक, अहमदाबाद

**पृष्ठ -** ( भूमिका, पुरोवचनिका, प्राक्कथन सहित ) २९२, हार्ड बाइंडिंग

**मूल्य -** ३०.०० रु०, विक्रम सं० २०५१, श्री राजेन्द्र सूरि सं० ८८

आचार्य जयन्तसेन सूरि की यह कृति जैनागमों के संक्षिप्त परिचयात्मक विवरण की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण मानी जा सकती है। प्रस्तुत ग्रंथ में श्वेताम्बर परम्परा से मान्य आगमों का परिचय दिया गया है और इन अंग और अंग बाह्य आगमों तथा आगमिक व्याख्याओं में वर्णित विषय पर प्रकाश डाला गया है। साथ ही उन आगमिक ग्रंथों में उद्घृत सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक व्यवस्था का भी विवरण दिया गया है। वैसे तो आगम साहित्य का विवरण देने वाले अनेक ग्रंथ लिखे गये हैं परन्तु प्रस्तुत कृति इन सबसे अलग हटकर सामान्यजन के लिए भी बोधगम्य मानी जा सकती है। आचार्यश्री ने संक्षिप्त एवं सरल शैली में इसका प्रणयन किया है। डॉ० सागरमल जैन द्वारा लिखित इस ग्रंथ की भूमिका का शोधार्थियों के लिए विशेष महत्व है। जिज्ञासु सामान्य पाठकों के लिए यह एक संग्रहणीय एवं पठनीय ग्रंथ है। ग्रंथ का मुद्रण एवं बाइंडिंग आकर्षक है। ऐसे सुन्दर एवं उपयोगी ग्रंथ के लिए प्रकाशक एवं लेखक बधाई के पात्र हैं।

■

**पुस्तक -** समाधान की ज्योति

**लेखक -** मुनि श्री जयानंद जी म०

**प्रकाशक -** गुरु रामचन्द्र प्रकाशन समिति, भीनमाल ( जालोर )

**संस्करण -** द्वितीयावृत्ति ( १९९४ )

**मूल्य -** पठन-पाठन

इस पुस्तक के लेखक मुनि जयानन्द विजय जी म० ने आगमों के एवं अन्य पुस्तकों के आत्महितकर पाठों को प्रश्नोत्तर रूप में संग्रहीत कर पुस्तकाकार रूप दिया है। जिससे वाचना लेने वाला और धर्म श्रवण करने वाला, धर्म का एवं धर्माचरण का वास्तविक स्वरूप समझ सके। इस पुस्तक में मुनि भगवन्तों के जीवनोपयोगी आगमोक्त सूत्रों एवं टीकाओं को विशेष स्थान दिया गया है।

पुस्तक धर्म साधकों एवं सामान्य जनों के लिए उपयोगी है। पुस्तक की भाषा सरल एवं सुबोध है तथा साज-सज्जा आकर्षक है।

पुस्तक पठनीय है।

पुस्तक - दिशादर्शक ( प्रश्नोत्तरी )

अनुवादक - मुनि श्री जयानन्द विजय जी म०

प्रकाशक - श्री गुरु रामचन्द्र प्रकाशन समिति, भीनमाल ( राजस्थान )

मूल्य - पठन-पाठन

लेखक ने इस पुस्तक में श्री भद्रंकर सूरीश्वर जी म० कृत दशवैकालिक सूत्र के गुजराती विवेचन को हिन्दी में भाषांतरित करके प्रश्नोत्तर रूप में प्रस्तुत किया है। दशवैकालिक सूत्र में मुख्य रूप से काया को सदाचारी बनाने हेतु उपदेश है। जिसमें प्रथम से षष्ठ अध्ययन तक गोचरी हेतु जाना, गोचरी ग्रहण करना, आचारों का पालन करना आदि बातें प्रधानता से हैं। सप्तम् अध्ययन में वचन को कुशल बनाने का मार्ग वर्णित है। अष्टम् अध्ययन में आचार का वर्णन किया गया है। नवम् अध्ययन मनोविजय का मुख्यता से विधान दर्शाता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि इस पुस्तक से साधकों को सदाचारी बनाने की प्रेरणा मिलेगी। कृति संग्रहणीय एवं पठनीय है।

पुस्तक - विश्व के कीर्ति स्तम्भ नव गज रथ

प्रधान सम्पादक - बा० ब्र० श्री अजीत जी 'सौरई'

प्रकाशक - सर्वोदय समिति, ललितपुर ( उ० प्र० )

संस्करण - प्रथम ( १९९३ )

मूल्य - १५१.०० रुपये

जैन परम्परा में जिन मूर्तियों की प्रतिष्ठा के अवसर पर पंचकल्याणकों की परम्परा प्राचीन है। पंच कल्याणकों के अवसर पर गजरथ अर्थात् हाथियों से चालित रथों पर जिन प्रतिमाओं की यात्रा की परम्परा है। इसे ही गजरथ महोत्सव कहा जाता है। वस्तुतः पंचकल्याणक और गजरथ आदि जैन धर्म की प्रभावना के माध्यम माने गये हैं।

किन्तु गजरथों की यह परम्परा वीतराग निर्ग्रन्थ की परम्परा में वैभव प्रदर्शन की परम्परा बन गयी है। मुनिजन व श्रावक इस बात में आत्मतोष मानते हैं कि हमने पंचकल्याणक के अवसर पर कितने गजरथों का प्रदर्शन करवाया। इसी होड़ में ललितपुर में

सम्पन्न नवगजरथ के अवसर पर यह स्मारिका ग्रंथ प्रकाशित किया गया है। ग्रंथ में अनेक मन्दिरों और उसमें स्थापित जिन प्रतिमाओं का सचित्र वर्णन है। यह सत्य है कि जैन मूर्तिकला के इतिहास में ललितपुर के आस-पास के क्षेत्र से एक समृद्ध परम्परा प्राप्त होती है।

कृति में देवगढ़ की मूर्तियों का परिचय भी दिया है किन्तु देवगढ़ की क्षेत्र की प्रतिमाओं के चित्र नहीं दिये गये हैं। हमें यह जानकर अत्यन्त ही दुःख हुआ कि देवगढ़ की प्राचीन और आंशिक रूप से खण्डित प्रतिमाओं पर न केवल उनके पूजनीय बनाने की दृष्टि से उनके अंगों को उकरा गया अपितु उन सब पर चिह्न भी बना दिये गये। यह जैन कला के इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त ही दुर्भाग्यपूर्ण है क्योंकि ये प्रतिमाएँ उस काल की हैं जब तीर्थंकर प्रतिमाओं के नीचे चिह्न बनाने की प्रथा नहीं थी। दुर्भाग्य से इस ग्रंथ में भी उन चिह्नों का उल्लेख किया गया है, जो घातक है। इस सम्पूर्ण ग्रंथ में मुनि श्री सुधासागर जी और आयोजकों के अनेक चित्र हैं। सम्भवतः यह सब धीरे-धीरे वैभव और अहं के प्रदर्शन का ही माध्यम बनता जा रहा है। यदि इस ग्रंथ की अपेक्षा किसी आगम का उद्धार हुआ होता तो अधिक संतोष की बात होती।

■

पुस्तक - आचार्य ज्ञानसागर की साहित्य साधना

प्रकाशक - श्री दिगम्बर जैन अतिथय क्षेत्र मंदिर, संधी जी जैन मन्दिर रोड,  
सांगानेर ( जयपुर ), आकार - डबल डिमाई

मूल्य - ५०.०० ₹०।

जैन परम्परा में आधुनिक युग के कवियों में सर्वाधिक प्रभावशाली माने जाने वाले महाकवि परम पूज्य आचार्य श्री ज्ञानसागर महाराज हुए हैं। इनके २१ वें समाधि-दिवस के संस्मरण के रूप में प्रकाशित "आचार्य ज्ञानसागर की साहित्य साधना" नामक पुस्तक जितनी विद्वज्जनों के लिए लाभदायी है, उससे कहीं अधिक जनसामान्य के लिए उपयोगी है। आचार्य श्री ने जयोदय, वीरोदय, सुदर्शनोदय, श्री समुद्रदत्तचरित्र, दयोदय चम्पू, मुनि मनोरञ्जनशतक जैसे काव्यों को लिखकर उन्होंने अपनी सृजना शक्ति का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। यह विद्वानों के लिए एक आदर्श स्थापित करता है। जिन्हें उनके मूल साहित्य को पढ़ने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ है, वे इस पुस्तक में उनकी रचनाओं के विभिन्न आयामों पर जो विभिन्न विद्वानों के विविध लेख प्रकाशित हुए हैं उन लेखों को पढ़कर उनकी ज्ञानरूपी साहित्य साधना की अमर ज्योति से स्वयं तो प्रकाशित होंगे ही साथ ही इस ज्ञान ज्योति से औरों को प्रकाशित करने में भी सफल होंगे। यह पुस्तक साहित्य प्रेमियों के लिए वरदान सिद्ध होगी ऐसा मेरा विश्वास है।

■

पुस्तक - चैतन्य चिंतन

लेखक - श्री १०८ मुनि विरागसागरजी म०

प्रकाशक - श्री सुवालाल चतुरभुज अजमेरा, नागौर ( राजस्थान )

संस्करण - प्रथम ( १९८७ )

मूल्य - पाँच रुपये ( प्रथम ), दस रुपये ( द्वितीय )

चैतन्य चिंतन में मुनि श्री विरागसागर जी द्वारा १९८४ तक की दैनिक डायरी के रूप में लिखे गये अन्तर विचार प्रस्तुत हैं। इन विचारों में सत्विचार, सुसंस्कार, अध्यात्म वृत्ति, अनुशासन, ज्ञानदान, प्रतिक्रमण, संगति आदि कुल १०२ सद्विचार प्रथम भाग में हैं। द्वितीय भाग में क्रोध के प्रकार, सुसंस्कारित ज्ञान, अहिंसा, ज्ञान का आनन्द, कर्मफल सहित १०३ विचार संकलित हैं।

आशा है इस पुस्तिका से पाठकगण मुनि श्री के विचारों के सारभूत तत्व को समझकर उससे लाभान्वित होंगे। पुस्तिका उपयोगी है।

**Book - First Steps to Jainism : Part II**

**Writer - Sancheti & Bhandari,**

**Publisher - M. Sujanmal Ugam Kanwar, Sancheti Trust, Jodhpur.**

**First Edition - 1994, Pages - 156,**

**Price - Rs. 100.00**

The first and fourth chapter of this book deeply analyse the significant problems of Karma and the Central philosophy of Jainism - Anekāntavāda. Former is devoted to the concrete, realistic physical aspect of Karma which psychophysical hammers the progress of Jīvatmā and the later is concentrated on the synthesis of conflicting views and ultimately proves that the things which appear contradictory are not so in real nature but are complementary.

Three more subsidiary problems were also discussed in the book, i.e., problem of Guṇasthāna, five bodies and five Samvāys. What is most important aspect of the book is its five appendices which elaborately deal the Doctrine of Karma, Modern Physics and Syādvāda, Jaina dialectic of Syādvāda in relation to probability and system of prediction and Anekāntavāda.

I would like to add further that the certain terms have diacritical marks while the same are missing in other terms. Not only this but in using diacritical marks a sound principle has not been adopted, e.g., on page II (a) and (b) does not have any affinity with (c) & (d); (f) with (e) and h.

However, the book has opened new vistas to enlightened readers, scholars as well. It will be very useful to the common readers also. The lucid style and simplicity of language attracts our attention most. I must congratulate the writer for such splendid endeavour. ■

# साभार प्राप्ति

१. पुस्तक - आत्म खोज, लेखक - बी० रमेश जैन, संस्करण - तृतीय १९९४, प्रकाशक - गादिया मदनलाल ज्ञानोन्मुख ट्रस्ट, श्री भीकमचन्द जुगराज गादिया जैन, २ पुलीयार कोयल स्ट्रीट ( शूले ), अशोक नगर, बैंगलोर-५६० ०२५।

2. Book - A Path to Self-Realisation, Compiled by B. Ramesh Jaina, Translation : Prof. Pratap Kumar J. Tolia, Edition : Second 1994, Price : Rs. 5.00, Publisher : Gadiya Madanlal Education Trust, Sri Bhikamchand Jugraj Gadia Jain, 2, Polyar Koil Street, Ashok Nagar, Bangalore - 560 025.

३. पुस्तक - 'अमूर्त शिल्पी' आचार्य श्री विद्यासागर : व्यक्तित्व और विचार, लेखक-मुनि क्षमासागर।

४. पुस्तक - स्तुति सरोज, लेखक - आचार्य श्री विद्यासागर मुनि महाराज, प्रकाशक - सिंघई ताराचन्द्र जैन बांझल, राजेश दाल मिल, पथरिया, दमोह, मध्य प्रदेश, संस्करण - प्रथम १९९४।

प्रस्तुत कृति में आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज द्वारा पथरिया चातुर्मास के अवसर पर आयोजित 'त्रैलोक्य तिलक महामण्ड विधान' के अवसर पर रचित स्तुतियों को संग्रहीत कर 'स्तुति सरोज' के नाम से प्रकाशित किया गया है।

इन स्तुतियों में आचार्य शान्तिसागर जी म०, आचार्य वीर सागर जी म०, आचार्य शिवसागर जी महाराज, आचार्य ज्ञानसागर जी म० के प्रति लेखक ने अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है। इस कृति के अध्ययन से धर्मानुरागी जन लाभान्वित होंगे।

५. पुस्तक - पंचकल्याण गजरथ समीक्षा, लेखक - मुनि श्री १०८ सरलसागर महाराज, प्रकाशक - श्री कपूर जैन, देवरी ( सागर ), म० प्र०, पिन - २७० २२६, संस्करण-प्रथम १९९४, आकार - ?, मूल्य - स्वाध्याय।

६. पुस्तक - आखिर हमें भ्रान्ति क्यों ? संकलनकर्ता - घेवरचन्द गोदीका, प्रकाशक- घेवरचन्द गोदीका, ६३९, सिरमौर हाउस, किशनपोल बाजार, जयपुर-३०२ ००३, संस्करण -१९९४।

## जैन जगत्

विविध विशेषताओं के संगम : आचार्य सम्राट श्री देवेन्द्र मुनि जी म० सा०  
( जन्म जयन्ती पर विशेष )

जैनधर्म दिवाकर आचार्य सम्राट श्री देवेन्द्र मुनि म० सा० ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग के दुर्लभ त्रिवेणी संगम हैं जो उन्हें जन-जन के लिए वंदनीय और श्रद्धा के केन्द्र बिन्दु के रूप में प्रतिष्ठित करता है। आपका जीवन प्रतिभा, परिश्रम एवं प्रेम का अक्षय निर्भर है।

आपका जन्म दिनांक ७ नवम्बर १९३१ को उदयपुर के प्रसिद्ध जैन वरड़िया परिवार में हुआ था। बचपन में ही पिता श्री जीवन सिंह जी वरड़िया का साया सिर पर से उठ जाने के बाद माताश्री तीजाबाई ने आपके जीवन को संस्कार एवं शिक्षा से अनुप्राणित किया। पूर्वजन्मकृत सुकृत की प्रेरणा से केवल नौ वर्ष की लघुवय में सन् १९४१ में आपने खण्डप जिला - बाड़मेर ( राजस्थान ) में उपाध्याय प्रवर श्री पुष्कर मुनिजी म० सा० के श्रीचरणों में आर्हती दीक्षा धारण कर साधना के असिधारा पथ पर चलने का संकल्प किया और आज भी अनवरत रूप से उस साधना पथ पर अग्रसर हैं।

हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं के ज्ञान के साथ जैन आगम साहित्य का गंभीर अध्ययन आपने किया और तीक्ष्ण प्रज्ञाबल व व्युत्पन्न मेधा शक्ति के कारण शीघ्र ही आपने जैन तत्त्वज्ञान, आगम और दर्शन में अधिकारिक विद्वत्ता प्राप्त कर ली। जैन साहित्य की आपने अभूतपूर्व सेवा की है। जैन कथा साहित्य पर १११ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जो आपके द्वारा सम्पादित हैं। जैन कथाओं के अतिरिक्त लगभग ५० अन्य पुस्तकों का लेखन आपने किया है जिनमें खिलती कलियाँ मुस्कुराते फूल, प्रतिध्वनि, जलते दीप, बूँद में समया सागर, पढ़े सो पंडित होय, ज्योति से ज्योति जले आदि मुख्य हैं। इसके अतिरिक्त धर्म का कल्पवृक्ष, श्रावक धर्म दर्शन, ब्रह्मचर्य विज्ञान, साहित्य और संस्कृति, चिन्तन की चाँदनी, अनुभूति के आलोक में आदि आपकी ऐसी रचनाएँ हैं जो साहित्य की अनेक विधाओं पर आपके बहुआयामी ज्ञान को द्योतित करती हैं।

महामहिम आचार्य सम्राट श्री आनन्दऋषि जी के स्वर्गवास के बाद आप श्रमण संघ के तृतीय आचार्य पद पर आसीन हुए हैं। आपकी प्रेरणा से हजारों व्यक्ति व्यसनमुक्त जीवन जीने के लिए प्रेरित हुए हैं। १ नवम्बर, १९९४ को आप ६४ वर्ष पार कर ६५वें वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं।



हम सभी की हार्दिक मंगलकामना है कि आप पूर्ण स्वस्थ रहकर जिन शासन की गरिमा में सदा अभिवृद्धि करते रहें।

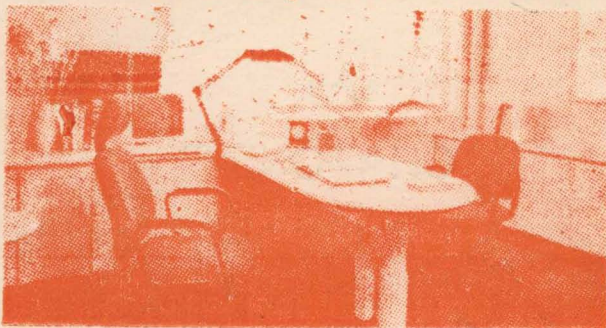
- श्री दिनेश मुनि जी म०

### चंदनमल 'चाँद' का निधन

प्रबुद्ध चिन्तक, साहित्यकार, कवि, भारत जैन महामंडल के महामंत्री एवं 'जैन जगत' मासिक के सम्पादक श्री चंदनमल 'चाँद' का दिनांक २ सितम्बर' ९४ को आकस्मिक निधन हो गया। आपका जन्म २८ अक्टूबर, १९३६ को राजस्थान के चुरू जिला स्थित श्री डूंगरगढ़ में हुआ था। आप एक जाने-माने लेखक, उपन्यासकार, कवि एवं प्रखर वक्ता थे। आपकी लगभग ३५ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, जिनमें मार्मिक संकलन, प्रेरक लेख संग्रह, मुक्तक एकांकी संग्रह एवं यात्रा संस्मरण आदि उल्लेखनीय हैं। आप भारत जैन महामंडल के पिछले पन्द्रह वर्षों से लगातार मंत्री रहे। आपको 'समाज गौरव' एवं 'मरुधर वीर' उपाधियों से अलंकृत किया गया था। आपके निधन से जैन समाज की अपूरणीय क्षति हुई है।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिवार उन्हें अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

# NO PLY, NO BOARD, NO WOOD.



## ONLY NUWUD.<sup>®</sup>

**INTERNATIONALLY ACCLAIMED**  
*Nuwud MDF is fast replacing ply, board and wood in offices, homes & industry. As ceilings,*

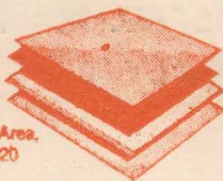
**DESIGN FLEXIBILITY**  
*flooring, furniture, mouldings, panelling, doors, windows... an almost infinite variety of*

**VALUE FOR MONEY**  
*woodwork. So, if you have woodwork in mind, just think NUWUD MDF.*

Arms Communications

**NUCHEM LIMITED** 

E-46/12, Okhla Industrial Area,  
Phase II, New Delhi-110 020  
Phones: 632737, 633234,  
6827185, 6849679  
Tlx: 031-75102 NUWD IN  
Telefax: 91-11-6848748.



**NUWUD**  
**MDF**

*The one wood for  
all your woodwork*



**MARKETING OFFICES:** • AHMEDABAD: 440672, 489242 • BANGALORE: 2219219  
• BHOPAL: 552780 • BOMBAY: 8734433, 4937522, 4952648 • CALCUTTA: 270549  
• CHANDIGARH: 603771, 604463 • DELHI: 632737, 633234, 6827185, 6849679  
• HYDERABAD: 226607 • JAIPUR: 312636 • JALANDHAR: 52610, 221087  
• KATHMANDU: 225504, 224904 • MADRAS: 8257589, 8275121